श्रीः

(य)क्ष्मा

उसके कारण और निवारण

लेखक—

पं० भालचन्द्र शर्मा, काव्यतीर्थ, आयुर्वेदाचार्य

प्रथमावृत्ति १०००] [सं० १९९८ वि०

प्रकाशक—
दामोदर प्रसाद
लोक साहित्य-सदन
१७९, हरिसन रोड,
कलकत्ता

मुद्रक—
भगवती प्रसाद सिंह
न्यू राजस्थान प्रेस,
७३-ए, चासाधोबापाड़ा स्ट्रीट,
कलकत्ता ।
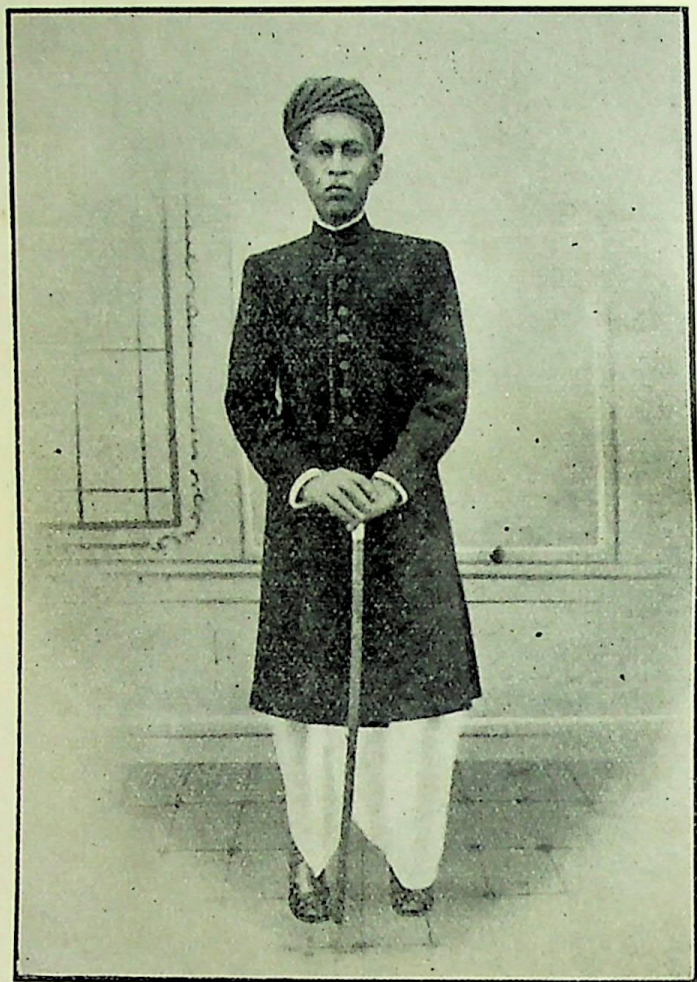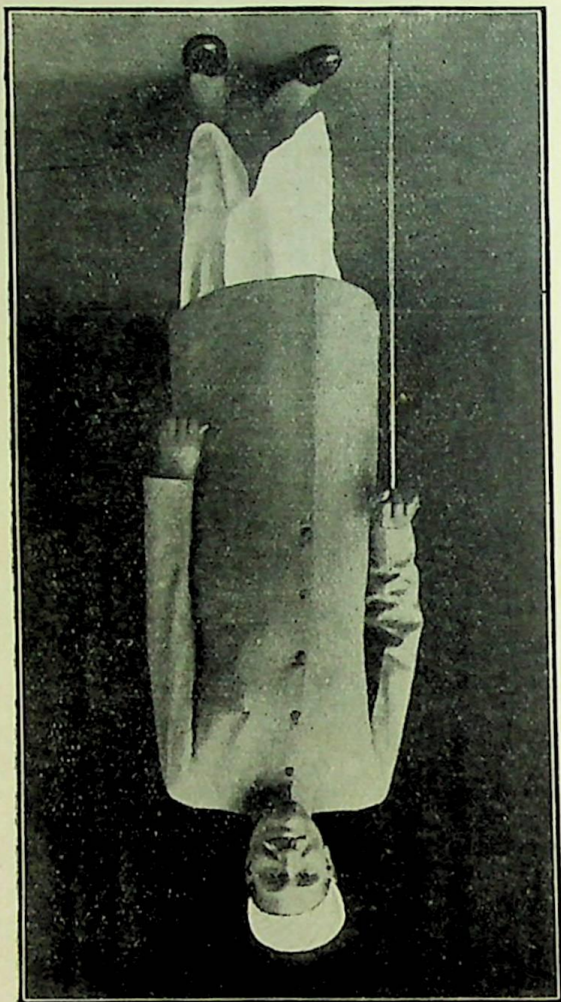
स्व० सेठ गणेशनारायणजी खेतान

स्व० सेठ गणेशनारायणजी खेतान

स्व० सेठ सागरमलजी खेतान

समर्पण

सेठ गणेशनारायणजी खेतान

एवं

सेठ सागरमलजी खेतान

इन दोनों स्वर्गीय आत्माओं की प्रेरणा, संसर्ग
और प्रोत्साहन से ही मैं यह ग्रन्थ
उपस्थित करने में समर्थ हुआ हूँ।

अतएव

उन्हीं की शुभ कामना और प्रोत्साहन का

यह फल

उन्हीं स्वर्गीय पवित्र आत्माओं को सप्रेम समर्पित
करता हूँ।

—भालचन्द्र शर्मा

विषय सूची

नम्र निवेदन

हिन्दी में यक्ष्मा रोग पर बहुत ही कम पुस्तक देखने में आती हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से यह रोग इतने अधिक परिमाण में फैल गया है कि भारतवर्ष में शायदही कोई ऐसा पुण्यशाली घर होगा जो इसके शिकार होने से बचा हो। भारतवर्ष में घर २ में क्षय-रोगी देखने में आते हैं। इस रोग के चंगुल में फंस कर असंख्य युवतियों और युवक मृत्यु की बलिवेदी पर बलिदान हो रहे हैं। जब रोगी अपने कानों से यह सुन लेता है कि उसे 'टी० बी०' अर्थात् यक्ष्मा हो गया है—तब वह अपनी इह लीला की समाप्ति निकटतम समझ लेता है। इस रोग की भयंकरता से मानव का हृदय कांप उठता है—इसके नाम श्रवण मात्र से आधी जान शरीर से निकल जाती है। प्रति वर्ष संसार में दस लाख पंचानवे हजार, प्रति दिन तीन हजार, एवं प्रति मिनट २ मनुष्य इस यक्ष्मा-दानव की भेंट चढ़ते हैं।

इस रोग की गणना असाध्य रोगों में है। यह फेफड़ों को प्रबलता से पकड़ता है। यह प्रायः समस्त सभ्य देशों में पाया जाता है। परन्तु विदेशों के निवासियों ने रोग निवारण के श्रेष्ठ उपायों तथा विचारयुक्त

चिकित्सा-पद्धति से क्षय से होनेवाली मृत्यु-संख्या को घटाने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की है। हमारे देश में भी मदनापल्ली, भुवाली, धर्मपुर आदि स्थानों में पाश्चात्य पद्धति से इसका इलाज होने लगा है। अनेकों व्यक्तियों ने इन सेनिटोरियमों से लाभ उठाया है। परन्तु इतने विशाल देश में इन इनेगिने आरोग्य भवनों से इस भयंकर नर संहारकारी शत्रु पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। इसके नाश के लिये भागीरथ प्रयत्न करने की आवश्यकता है। दूसरे देशों की तुलना में यहाँ जो कुछ हो रहा है, वह नहीं के बराबर है। इंगलैण्ड की जनसंख्या प्रायः ४-५ करोड़ है। सन् १६२१ में वहाँ इस रोग-निवारण के लिये—४१२ सेनिटोरियम थे, जिनमें १६००० हजार रोगियों की चिकित्सा का प्रबन्ध था। बाहर से आकर भी हजारों की तादाद में रोगियों को औषधि प्राप्त होने की सुविधा थी। इंगलैण्ड की आबादी की औसत को देखते हुए इन सेनिटोरियमों की संख्या काफी थी पर वहाँ का अधिकारी वर्ग इतने से भी संतुष्ट नहीं था। इसकी तुलना में ४० करोड़ आबादी वाले इस विशाल देश में १०—१२ सेनिटोरियमों का होना एक उपहासास्पद सा मालूम होता है। उदारमना भारतीयों का ध्यान इस तरफ आकर्षित होना चाहिये। यह धारणा बनाये रखना भ्रम है कि इस रोग का कोई इलाज

नहीं है। रोग के आक्रमण होने पर भयभीत होने और घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है। सिर्फ आवश्यकता इस बात की है कि, आरोग्य-प्रदस्थानों में रह कर अनुभावी चिकित्सकों से इसका इलाज कराया जावे। इस रोग के रोगी के लिये खुली हवा, पूर्ण विश्राम और पौष्टिक पदार्थों का सेवन—इन तीन बातों पर ध्यान रखना परमावश्यक है। ये साधन बड़े २ शहरों में प्राप्य नहीं हैं।

हमारा कर्त्तव्य है कि, हम सर्व प्रथम यक्ष्मा के कारणों को दूर करने का प्रयास करें। क्षय रोगी से पीड़ितों की रक्षा करने तथा आरोग्य भवनों की स्थापना का कार्य तो होवे ही पर साथ ही साथ हमें, सर्व साधारण को इस रोग से बचने के उपायों का भी ज्ञान कराना चाहिये। इस विषय के लेख समाचर पत्रों में बरा बर प्रकाशित होते रहने चाहिये और व्याख्यानों, प्रदर्शनों तथा सभाओं द्वारा लोगों को इसकी जानकारी करानी चाहिये। इसके विषय में सब प्रकार की जानकारी कराने वाले साहित्य का प्रकाशन भी नितान्त आवश्यक है।

इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर मैंने यह पुस्तक लिखने का साहस किया है। इसमें यक्ष्मा संबंधी सभी विषयों का सहयोग किया गया है। आशा है जनसमुदाय इससे आवश्य ही लाभ उठायेगा।

मैं अपने उन सभी मित्रों का बड़ा अभारी हूं और उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने में मुझे सहयोग प्रदान किया है। साथ ही जनता-जनार्दन से मेरा नम्र निवेदन है कि, इस पुस्तक में जो कुछ भी त्रुटियां उन्हें दिखलाई दें उन्हें मुझे सूचित करें ताकि, भावी संस्करण में वे न रहने पावे।

विनीत—
भालचन्द्र शर्मा

यक्ष्मा २८
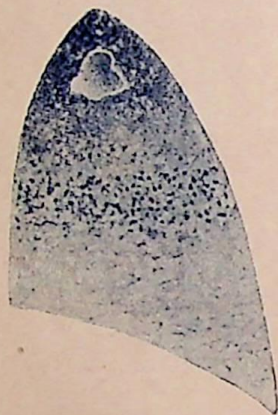
यक्ष्मा-रोग फुफ्फुस का विविध अवस्था।

यक्ष्मा, उसके कारण और निवारण

१

यक्ष्मा की शिकायत हमारे यहाँ प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है। इस असाध्य रोग के शिकार हो कर कितने ही आदमी असमय में काल-कवलित होते हैं, इसका ठिकाना नहीं। किंतु, फिर भी लोगों की आँखें नहीं खुलतीं। इस दुरारोग्य रोग की एक विशेषता यह है कि प्रारंभिक अवस्था में साधारणतया लोग इसे पह-

एक

चान ही नहीं पाते। अगर शुरूआत से ही रोग की समुचित चिकित्सा और रोगी की भली तरह देख-भाल हो, तो रोग से मुक्ति मिल सकती है। लेकिन, शुरू के लक्षण इसके ऐसे होते हैं कि लोग इसे मामूली-सी शिकायत समझ कर टाल जाने की चेष्टा करते हैं। यक्ष्मा के प्रारंभिक लक्षण कुछ अन्य रोगों से मिलते-जुलते होते हैं। नतीजा यह होता है कि जब इसके प्रारंभिक लक्षण दिखायी देते हैं और सावधान लोग चिकित्सकों की शरण में जाते हैं, तो चिकित्सक स्वयं रोग की पहचान में भूल कर बैठते हैं। यथार्थ रोग की उपयुक्त चिकित्सा के बदले और-और रोगों के दवा-दारू और परहेज़, पथ्यादि चलने लगते हैं। ऐसी व्यवस्था से रोग के बाहरी लक्षण, जैसे कफ के साथ खून आना, खाँसी, हलका बुखार आदि कुछ काल के लिये रुक जरूर जाता है; किंतु रोग की जड़ जो फेफड़े को धीरे-धीरे चलनी बनाती रहती है, नहीं दूर होती। फलस्वरूप कुछ दिनों तक सुस्थता बोध करने के बाद सहसा रोगी खाट पकड़ता है और फिर जीवन के साथ ही उसके कष्टों का अंत हो सकता है।

बहुत पहले भारत में इस बीमारी की ऐसी अधिकता नहीं थी, जैसी कि आज है। आज देश में एक ऐसा विशेष वातावरण तैयार हुआ है, जिसमें इस रोग को खुल कर खेलने का अच्छा मौका हाथ लगा है। अपनी

जीविका की जटिल गुत्थियाँ सुलझाने में लोग तन-बदन की सुध भूल बैठे हैं। उन्हें अपने-अपने परिवार के भरण-पोषण की चिंता है और वे जीविका के लिये साध्य से अधिक जूझने की कोशिश करते हैं। आराम, आहार-विहार आदि की उचित व्यवस्था नहीं रह पाती। फिर यह रोग संक्रामक भी है। रोगियों के संसर्ग से भी इसके बीजाणु दूसरों में घर बना लेते हैं। लेकिन प्रारंभ में किसी को भी इस ओर ध्यान देने की जरूरत नहीं महसूस होती। रोग जब अपनी जड़ मजबूत बना लेता है, तब लोग चौंक से पड़ते हैं। किंतु, तब तो एकमात्र भगवान का आसरा ही रह जाता है। इसलिये जन-साधारण को इस रोग की जानकारी नितांत प्रयोजनीय है।

यक्ष्मा की उत्पत्ति के कारण

यक्ष्मा की उत्पत्ति का कोई विशेष कारण निश्चित नहीं। इसके बहुत-से कारण हैं और परिस्थिति विशेष में कारण भी अलग-अलग होता है। तब साधारणतया भोजन के अनियम, जैसे सड़ी-गली चीज़ों का व्यवहार, अधिक भोजन, सार-तत्व रहित पदार्थों का व्यवहार, बराबर कम भोजन, असमय में भोजन, विरुद्ध भोजन, बुरे स्थानों में भोजन आदि से इस रोग के बीजाणु शरीर में पैदा होते हैं। अत्यधिक शराब पीना, अत्यधिक स्त्री

प्रसंग, कृत्रिम उपाय से अधिक शुक्र स्खलन, रात्रि जागणर, अत्यधिक परिश्रम, संसर्ग दोष आदि कारणों से यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। यक्ष्मा के विषय में साधारण लोगों की एक बँधी-बँधायी धारणा है कि यह फेफड़े का ही रोग है। फेफड़े में यक्ष्मा होती है, यह बात सही है; लेकिन सिर्फ फेफड़े में ही होती है, यह कहना गलत है। यह ऐसा रोग है, जो शरीर के हर अंग में होता है। दूसरे परिच्छेद में हम विस्तार पूर्वक इसका वर्णन करेंगे। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि चूंकि यह शरीर के हर अंग में होती है, इसलिये इसके कारण भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे कभी-कभी किसी खेल, व्यायाम, दौड़ना या अधिक वजन उठा लेने से फेफड़े पर जरूरत से ज्यादा जोर पड़ता है, तब फेफड़े फट कर खून बहना जारी हो जाता है। भोजन आदि के अनियम से पेट की यक्ष्मा होती है, इसी तरह और-और भी।

आज का भोजन—

आज का युग यंत्र-युग है। मानव-जीवन प्रति नियत प्रगति के पीछे पागल है। इसलिये मनुष्यों की जीवन-यापन प्रणाली एक बारगी बदल गयी है। यंत्र युग ने हमें दैनंदिन जीवन की सुख-सुविधाओं के अच्छे से अच्छे साधन जरूर दिये हैं, परन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से इसने मानव-समाज की मिट्टी पलीद कर दी है। आज हमें रोटी के लिये एड़ी-

चोटी का पसीना एक करना पड़ता है, परन्तु हमें पुष्टि-कर खाद्य नहीं मिलता। पैसों का महत्व हमारे जीवन के लिये इतना बढ़ गया है कि उसके आगे जीवन में और किसी चीज़ को हम महत्व नहीं देते। इसलिये हम ऐसे भोजन का ध्यान नहीं रखते, जिससे शरीर के सभी अंगों का पुष्टि-साधन हो। या अगर हमें इस बात का ख़याल भी रहता है, तो तथ्यपूर्ण भोजन हमें मिल नहीं सकते। चाहे उसके लिये हम जितने ही पैसे खर्च क्यों न करें। बाज़ारों में अच्छी चीजें नहीं मिल सकतीं, गन्दी और कृत्रिम चीजों की ही भरमार है। घी, तेल, दूध, आंटा, चावल आदि, जो हमारे शरीर यन्त्र को क्रियाशील और तरोताजा बनाये रखते हैं, अच्छा और समुचित परिमाण में हम नहीं पाते। फल यह होता है कि हम जितना अधिक परिश्रम करते हैं और उससे शरीर की जो शक्ति क्षीण हो जाती है, वह पूरी नहीं पड़ती। इससे यक्ष्मा जैसे भयंकर रोग का शिकार होना पड़ता है।

अतिरिक्त परिश्रम–

आज जीवन की जरूरतें बहुत ज्यादा बढ़ गयी हैं, लेकिन उनकी पूर्ति के साधन बहुत कम होते गये हैं। हर आदमी को अपनी और अपने परिवार की सब तरह की आवश्यकतायें दूर करने के लिये अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता है। किसी-किसी को लगातार बारह-बारह घंटे, दस-दस घंटे

काम करना पड़ता है। या तो वह लगातार शारीरिक परिश्रम ही करता रहता है, या मानसिक। उसके मस्तिष्क या अन्य अवयवों को कभी आराम नहीं मिलता। पुष्टिकर खाद्य तो मिलता ही नहीं। इससे आदमी दिन-दिन कमजोर होता है, उसकी भोजन की रुचि जाती रहती है, जो खाता है, वह हजम नहीं होता, थकावट से अच्छी नींद भी नहीं आती। इन कारणों से बहुत समय आदमी शराब पीने की आदत डालता है। नशे में वह चिंता और थकावट को किसी हद तक भूल जाता है और आराम बोध होता है। धीरे-धीरे शराब पीने की लत उसे बुरी तरह पड़ जाती है, जिससे उसे कभी छुट्टी नहीं मिलती। ज्यादा शराब पीने का परिणाम बड़ा ही बुरा होता है। पीने वाले की अँतड़ियाँ कमजोर हो जाती हैं, भूख मर जाती है, फेफड़ा खराब हो जाता है।

अग्नि-मांद्य—

आजकल रुचि बदल जाने के कारण लोग भोजन का संयम तो कतई नहीं करते। इससे पेट की बहुत सारी बीमारियां आजकल जोर पकड़ रहीं हैं, जिनमें अनपच, पेचिश, अग्नि-मांद्य, अरुचि आदि-आदि हैं। आयुर्वेद के अनुसार अग्निमांद्य ही सभी रोगों का मूल है। शरीर को स्वस्थ और बल-वान रखने के लिये पाचकाग्नि को हमेशा ठीक रखना आवश्यक है। क्यों कि हम जो कुछ भी भोजन के रूप

में ग्रहण करते हैं, वह पाचकाग्नि के सहारे ही रस रूप में परिणत होता है और इसी रस से रक्त, मांस, मज्जा आदि परिपुष्ट होते हैं। यदि पाचकाग्नि मन्द पड़ जाय, तो पेट की शिकायतें बढ़ती हैं और आदमी धीरे-धीरे कमजोर और दुबला होने लगता है। फिर तो कोई भी रोग उसकी नाक पर सवार हो सकता है।

अग्निमांद्य का हमारे देश में आज आम शिकायत है।

अग्निमांद्य के कारण-

इसके बहुत से कारण गिनाये जा सकते हैं। किंतु, विरुद्ध भोजन, असमय में भोजन, बुरे स्थानों में भोजन, जो-सो खा लेना, बार-बार खाना, या बहुत कम खाना, आदि इसके मुख्य कारणों में हैं। आयुर्वेद बताता है कि अन्न ही प्राण है और अन्न के दोष से ही अकाल-मृत्यु होती है। हम साधारणतया विरुद्ध भोजन की हानियों का कभी खयाल नहीं करते। जैसे मांस-मछली के साथ दूध या खीर खाना अथवा मछली और घी के बने पदार्थ एक साथ खाना बड़ा ही हानिकारक है। आयुर्वेद में इसकी सख्त मुमानियत है। किन्तु हम इसकी परवा नहीं करते। फलस्वरूप विशूचिका, उदरामय, विदग्धाजीर्ण आदि कठिन रोग हमें दबा बैठते हैं। इसी तरह फल खाकर तुरत पानी पी लेना, दूध के साथ या दूध के बने खाद्य पदार्थ के साथ खट्टा खाना भी अनुचित है। हमारा देश

गर्म देश है। यहां मसालेदार चटपटी चीजें, ज्यादा खट्टा, ज्यादा कड़ुआ, चाय या कहवा आदि पदार्थों का व्यवहार सर्वथा निषिद्ध है। असमय में भोजन के परिणाम स्वरूप वायु और पित्त बिगड़ कर नाना रोगों की सृष्टि करते हैं। भोजन के उपरान्त थोड़ी देर विश्राम करना अनिवार्य है। तुरत किसी काम में हाथ लगा देना, चलना या ऐसा ही कोई अन्य परिश्रम का काम करना इस देश के लिये स्वास्थ्य की दृष्टि से बड़ा ही हानिकारक है। कृत्रिम और गन्दी चीजें खाते रहने से भी बुरा परिणाम होता है।

धातु-दौर्बल्य—

वर्त्तमान समय में, जिसे हम सभ्यता का स्वर्णयुग और नयी रोशनी कहते हैं, एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत हुआ है, जो हर तरह से हमारे जीवन को प्रति नियत निरर्थक बनाता जा रहा है। हम होटलों, रेस्टूरेंटों में विभिन्न प्रकार की चीजें ग्रहण करते हैं। ये चीजें गन्दी होती हैं, कृत्रिम होती हैं, उत्तेजक होती हैं और होती हैं हानिकारक। सफाई की अच्छी व्यवस्था नहीं रहती। एक ही वर्तन में रोगी और नीरोग, सभी लोगों को भोजन दिया जाता है, जिससे एक की संक्रामक बीमारी दूसरे में फैल जाती है। अंग्रेजी ढंग के होटलों में देश की आबहवा के प्रतिकूल उत्तेजक पदार्थ पाये जाते हैं, जिनसे शरीर में एक क्षणिक उत्तेजना का संचार

होता है, गो कि शुरू-शुरू यह बात लोगों के ध्यान में नहीं आती। नाटक, सिनेमा, थियेटर, प्रसाधन की विभिन्न सामग्रियाँ, कहानी-उपन्यास के प्रेम कथानक आदि मस्तिष्क की शिराओं पर अपना स्थायी प्रभाव डालते हैं। एक तो मनुष्य को भोजन ठीक नहीं मिलता, उससे एक उत्तेजना शिरा-उपशिरा में हलकी-हलकी खेलती रहती है, फिर दिमाग में दुनिया की खुराफातें भर जाती हैं। इससे शारीरिक और मानसिक, दोनों ही अवस्थायें बदल जाती हैं और लोग धातुदौर्बल्य के शिकार होते हैं।

अतिरिक्त शुक्रस्खलन-

धातु दुर्बलता की बीमारी आज हमारे यहां कितनी अधिक फैली है, यह किसी को बताना न पड़ेगा। वीर्य ही शरीर की सार-वस्तु है। उसी से शरीर को कांति, आँखों की जोत, अंगों की क्रियाशीलता, शक्ति, सौंदर्य, आनन्द, सब कुछ बना रहता है। लेकिन जब वीर्य दुर्बल हो जाता है, और उसपर से रोज-रोज असंयम होता रहता है, तो वह नाना प्रकार से स्खलित होता रहता है। पिशाब के साथ गिरना, स्वप्नदोष होना, मामूली उत्तेजना में शुक्रपात होना आदि इसके बुरे परिणाम हैं और इससे अन्य बहुत-से भयंकर रोगों के आक्रमण होते हैं। अत्यधिक शुक्रस्खलन, फिर यदि कृत्रिम उपाय से हो, तो उस आदमी को भगवान बचाये। शुक्रस्खलन से आदमी धीरे-धीरे सूखने लगता है,

शरीर की कांति जाती रहती है, नाना रोग उसे घेरे रहते हैं और इसी तरह कष्ट से एक दिन वह संसार छोड़ जाता है। इसीलिये स्त्री-प्रसंग में भी आदमी का संयमित रहना एकांत-आवश्यक है।

साधारण तौर पर हमने यक्ष्मा के आक्रमण के कुछ कारण बताये। किंतु न तो इतने ही में कारणों की समाप्ति है और न ये ही कारण चरम हैं। बहुत समय इन कारणों के बावजूद भी सहसा यक्ष्मा का आक्रमण नहीं होता। फिर भी अधिकांश रोगी ऐसी ही मामूली बातों की ओर से उदासीन रहकर इस दुरारोग्य रोग से आक्रांत होते देखे गये हैं। बहुत समय एक दूसरे रोग को भोगते हुए लोग यक्ष्मा के शिकार हुए हैं। नीचे हम ऐसे ही कुछ रोगों की चर्चा करते हैं, जिनका रूप देखते-देखते यक्ष्मा में बदल जाता है।

सर्दी से यक्ष्मा— सर्दी को आम तौर से हम एक मामूली रोग समझते हैं। वास्तव में जरा अनियम हुआ नहीं कि सर्दी लगी। बहुत लोगों को सर्दी बराबर लगी ही रहती है। कारण ही लोग इस बीमारी को ध्यान देने लायक नहीं समझते। परन्तु, सच्ची बात तो यह है कि सर्दी बड़ी भयंकर बीमारी है। इससे बड़े-बड़े रोग शरीर में घर बना सकते हैं। बुखार, न्यूमोनिया, टाइफयेड आदि कठिन रोग इसी से होते हैं। अतएव हमें

सर्दी से सावधान रहना चाहिये। सर्दी से यक्ष्मा का भी सूत्रपात होता है। एकाएक एक दिन जरा हवा लगने या अन्य किसी कारण से सर्दी लगी, नाक से पानी बहने लगा, शरीर और सर में दर्द, ज्वर आने के-से लक्षण दिखायी पड़ने लगे। या तो साधारण सर्दी समझ कर पूरा ध्यान नहीं देने लगे। बस, किसी तरह सर्दी से खाँसी शुरू हुई। खाँसते-खाँसते रोगी के फेफड़े में घाव हो गया। उसके बाद खाँसते ही कफ के साथ फेफड़े के घाव का खून निकलने लगा। इसके अनंतर यक्ष्मा के अन्य सभी उपसर्ग, ज्वर, रक्त-हीनता, अरुचि, संताप आदि, प्रकट होने लगे।

सर्दी ही के समान ज्वर को भी हम मामूली रोग समझा करते हैं। ज्वर के अनेक प्रकार हैं और क्षयकारक रोगों में ज्वर ही सब से खतरनाक है। यक्ष्मा में शरीर इतना अधिक सूखता है सिर्फ हलके बुखार के कारण। ज्वर की भी परिणति यक्ष्मा में होते देखी गयी है। सभी प्रकार के ज्वर से यक्ष्मा होती है, ऐसी कोई बात नहीं, किंतु न्यूमोनिया, टाइफयेड, मैलेरिया, कालाज्वर और विषमज्वर से तो बहुत बार यक्ष्मा का होना देखा गया है। ये चारों प्रकार के ज्वर तो खुद ही मारात्मक हैं, फिर उनसे यक्ष्मा की उत्पत्ति होना तो और भी खतरे से खाली नहीं।

न्यूमोनिया एक प्रकार का सान्निपातिक व्याधि है।

न्यूमोनिया से यक्ष्मा– इसमें वायु और कफ का प्रकोप होता है और यह फेफड़े का ही रोग है। इससे फेफड़ा दूषित हो जाता है। विज्ञ चिकित्सक के सुनिपुण हाथों में पड़ने से ही इस रोग से पिंड छूट सकता है। अकसर ऐसा होता है फि दवा-दारू से रोग तो दूर हो जाता है, किंतु फेफड़े का दोष एकबारगी नहीं मिटता। रोगी जब भली तरह आराम बोध करता है, तो भी उसके फेफड़े में कुछ दोष वर्तमान ही रहता है। कुछ दिनों के बाद जब आहार-विहार में अनियम होता है, तो रोग फिर से उभड़ आता है। इस तरह बार-बार न्यूमोनिया के आक्रमण से फुफ्फुस जर्जर और कमजोर हो जाता है और धीरे-धीरे रोगी को यक्ष्मा के लक्षण दिखलायी पड़ने लगते हैं। खाँसी, कफ के साथ खून आना, ज्वर का होना शुरू हो जाता है। न्यूमोनिया से यक्ष्मा होने पर प्रथमावस्था में खाँसने पर खून का आना, पीला कफ गिरना, ज्वर आना, साँस लेने में कष्ट होना, बेचैनी, पँजरे में दर्द, कफ में बदबू आदि लक्षण दिखायी देते हैं।

टाइफयेड वह ज्वर है, जो वायु, पित्त और कफ,

टाइफयेड से यक्ष्मा– तीनों ही दोषों के कुपित होने से होता है। इस रोग में रोगी को ज्यादा कष्ट भोगना पड़ता है। बाज-बाज रोगी को पूरे तीन महीने

तक खाट की शरण लेनी पड़ती है। इसी लिये तीन सप्ताह से लेकर तीन मास तक इसकी अवधि मानी गयी है। टाइफयेड से दो प्रकार की यक्ष्मा के आक्रमण का भय रहता है। एक तो फुफ्फुस की यक्ष्मा, दूसरी पेट की यक्ष्मा। टाइफयेड के आक्रमण के बाद जब तक शरीर अच्छी तरह से स्वस्थ और नीरोग न हो जाय, तब तक हवा से परहेज करना अत्यावश्यक है। नहीं तो ठंढा लग जाने पर फुफ्फुस की यक्ष्मा होती है। टाइफयेड की विशेषता है कि वह रोगी को कृष और कमजोर बनाता है और इससे पेट की प्रक्रिया बिगड़ जाती है। पेट के दोष के लिये चिकित्सा की समुचित व्यवस्था नहीं होने से पेट की यक्ष्मा या औदरिक क्षय होता है।

विषमज्वर से यक्ष्मा—

विषमज्वर से यक्ष्मा होने के काफी कारण हैं। ज्वर छूट जाने पर रोगी यदि खान-पान का नियम नहीं रखता, तो दोषों के कुपित होने से इस ज्वर की उत्पत्ति होती है। इस ज्वर के न तो आने का ही समय रहता है, न उतर जाने का। इसमें रोगी को बहुत दिनों तक भोगना पड़ता है और वह सूख कर सिर्फ एक हड्डियों का ढाँचा ही रह जाता है। चूंकि इस ज्वर से शरीर की सातों धातुएँ क्षय प्राप्त होती हैं, इस लिये इससे यक्ष्मा होने की बहुत अधिक संभावना रहती है। विषमज्वर से होने वाली यक्ष्मा में बहुत समय रक्त-

पात तो बिल्कुल होता ही नहीं। फलतः लोगों को यक्ष्मा का संदेह ही नहीं होता। बहुत बार ऐसा होते भी देखा गया है कि विषमज्वर से धातुओं के क्षय होने से शरीर बहुत ही शुष्क और कृष हो पड़ता है। ऐसी दशा में फुफ्फुस में कोई घाव तो नहीं होता, किंतु फुफ्फुस एक बारगी सूख जाता है। जब यक्ष्मा का आक्रमण पूरी तरह से हो जाता है, तो खून बहना भी जारी हो जाता है।

विषमज्वर की प्रारंभिक अवस्था में यक्ष्मा के कोई लक्षण दिखायी नहीं पड़ते। इसलिये चिकित्सकगण ऐसा करते हैं कि ज्वर को रोकने की उग्रवीर्य औषधियाँ प्रयुक्त करते हैं, जिससे रोगी दिन प्रति दिन और दुर्बल ही हो पड़ता है। जब वह बिल्कुल रक्तहीन हो पड़ता है, तब यक्ष्मा के उपसर्ग एक-एक कर प्रकट होने लगते हैं। छाती और पँजरे में दर्द, गले में दर्द, ज्वर, अरुचि, मंदाग्नि, आँखों में सफेदी, अनियमित ज्वर, सबेरे की खाँसी, कमजोरी, आदि विषमज्वर से होने वाली यक्ष्मा के प्राथमिक लक्षण हैं।

जिसे साधारण लोग कालाआजार कहते हैं, आयुर्वेद के अनुसार वही त्रिदोषज विषमज्वर है। इस ज्वर में प्लीहा और यकृत विकृत हो जाता है, रक्त दूषित और देह का रंग काला

कालाआजार से यक्ष्मा-

हो जाता है। इसमें रोगी को आठों पहर ज्वर रहता है। जिससे रोगी के शरीर के धातु क्षय होते रहते हैं। अच्छी चिकित्सा होने से यह ज्वर छूट तो जाता है, लेकिन उसके बाद पथ्यादि में जरा-सी गड़बड़ी होने पर पेट में विकार पैदा होता है, फिर ज्वर का आना शुरू हो जाता है। अब मर्ज लाइलाज हो जाता है। दवा-दारू या सुई, कुछ भी नहीं सुनता। इसी के परिणाम स्वरूप पेट की अँतड़ियों में यक्ष्मा का आक्रमण होता है।

मलेरिया से—

मलेरिया से पेट और फुफ्फुस, दोनों को ही यक्ष्मा हो सकती है। मलेरिया बड़ा बुरा रोग है। सड़ी-गली चीजों के जहाँ ढेर जमा होते हैं, वहाँ की सँड़ाप से जो गैस तैयार होती है, उसी से मलेरिया फैलता है। आजकल लोग उस गंदगी से पैदा होने वाले एक खास तरह के मच्छर को मलेरिया का जन्मदाता मानते हैं। मलेरिया के रोगी को लंबे अर्से तक भोगना पड़ता है। जिससे रोगी की प्लीहा और यकृत बिगड़ जाते हैं, नसों में रक्त कम हो जाता है, अजीर्णता प्रबल होती है, मिजाज चिड़-चिड़ा और शरीर दुबला हो जाता है। ज्वर प्रायः हर समय लगा रहता है। ज्वर के साथ-साथ खाँसी बढ़ती है। फिर यक्ष्मा के अन्य उपसर्ग दिखायी देते हैं। मलेरिया में कुनैन का बहुत अधिक प्रयोग किया जाता है। कुनैन मलेरिया

की रामबाण दवा माना जाता है। परन्तु कुनैन शरीर के सभी धातुओं का क्षय करने वाला है। इसीलिये मलेरिया से यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है।

रक्तपित्त से—

बहुत समय यक्ष्मा के बजाय खून आने को लोग रक्त-पित्त का ही लक्षण मान बैठते हैं। रक्त-पित्त बड़ी कठिन बीमारी है। इसके आक्रमण से मुँह, नाक, कान, मूत्रमार्ग यहां तक कि प्रति लोम कूप से भी खून बहने लगता है। अत्यधिक व्यायाम, अतिरिक्त मैथुन, अतिरिक्त कड़वा-तीता भोजन, धूप सेवन करने से इस असाध्य रोग की उत्पत्ति होती है। इन से पित्त विकृत हो जाता है और रक्त को दूषित कर देता है, जिससे रक्तश्राव प्रारम्भ होता है। रक्तपात फेफड़ा या यकृत, दोनों से ही हो सकता है। लेकिन इतने पर भी रोगी अगर अनियम करना शुरू कर दे, जैसे परिश्रम, मैथुन, तो धीरे-धीरे यक्ष्मा के सारे उपसर्ग प्रकट होने लगते हैं,। रक्तपित्त से जब यक्ष्मा होती है, तो खाँसी, अग्निमांद्य, अरुचि, कफ के साथ खून आना, आँखों का सजल रहना, शरीर का रंग पीला पड़ जाना आदि लक्षण दिखायी पड़ते हैं। धीरे-धीरे रोग बढ़ने लगता है और असाध्य हो उठता है।

डिसपेपसिया आधुनिक सभ्य युग की देन है। यह एक अजीर्ण रोग विशेष है, जिसकी उत्पत्ति वायु और पित्त के कुपित होने से होती है। आधुनिक जीवन-यापन प्रणाली में जो क्रांति सी आ गयी है, उसमें अनियम का परिमाण ही अधिक है और उसी के फलस्वरूप इस रोग का आक्रमण होता है। शहरों के अधिकांश अधिवासी इस रोग से पीड़ित पाये जाते हैं। डिसपेपसिया दो प्रकार के पाये जाते हैं। एक प्रकार के डिसपेपसिया में हाजमा-शक्ति कम हो जाती है, खाने के बाद पेट में मीठा-मीठा दर्द होता है। एक सप्ताह या उससे अधिक दिनों के बाद कई बार पतली टट्टी आती है। इस रोग के रोगी का शरीर क्रमशः क्षीण ही होता जाता है, गो कि उसे पर्याप्त मात्रा में पुष्टिकर खाद्य-पदार्थ मिलता है। चूँकि भोजन की रुचि नहीं रहती और खाने पर भी हजम नहीं होता, इसलिये लोहू घटने लगता है, जी मिचलाता रहता है, चक्कर आता है, तीसरे पहर सर दुखने लगता है, हलका-हलका ज्वर भी आता है और मुँह में पानी भर-भर आता है। दूसरे प्रकार के डिसपेपसिया में पतली टट्टी होती है। खाने के बाद पेट फूलता है, डकार आते हैं, खाद्य-वस्तु कतई हजम नहीं होती। दोनों ही प्रकार के डिसपेपसिया में जब रोगी बहुत दिनों तक बीमार रहता

डिसपेपसिया से—

है, तो उसका रक्त, शक्ति, सब कुछ क्षीण हो आती है। फिर ज्वर, खांसी, स्वर-भंग आदि यक्ष्मा के उपसर्ग स्पष्ट हो उठते हैं। डिसपेपसिया से साधारणतया फुफ्फुस की यक्ष्मा होती है, किन्तु आगे चल कर यक्ष्मा का आक्रमण पेट में भी होता है। फिर तो रोगी को आरोग्य करने की कोई आशा ही नहीं रह जाती। डिसपेपसिया के कारण पेट की जो यक्ष्मा होती है, वह असाध्य ही नहीं, बड़ी पीड़ादायक होती है। अँतड़ियों में ग्रन्थियां पड़ जाती हैं यहां तक कि सारा पेट ही ग्रन्थियों से भर जाता है। ऐसी दशा में रोगी के लिये कुछ खाना असंभव हो जाता है। कभी कभी तो रोगी के पेट में बड़ी तीव्र यन्त्रणा होती है और कभी-कभी हाथ-पांव में सूजन भी होता है। ज्वर बहुत तेज रहता है, जी मिचलाता है। हरवक्त उलटी होने का संदेह बना रहता है, सांस लेने में भी तकलीफ होती है। सब से बड़ी बात यह होती है कि पेट का क्षय ही धीरे-धीरे फुफ्फुस में आक्रमण करता है और मनुष्य अन्तिम सांस लेता है।

डिसपेपसिया जात यक्ष्मा की अवस्था में-

डिसपेपसिया से होने वाली यक्ष्मा के प्रारम्भिक लक्षण हैं—पतली टट्टी, पेट में दर्द, हाथ-पांव में जलन, पेट में वायु, डकार, अरुचि, तीसरे पहर ज्वर आदि। इसके बाद मध्यम अवस्था में ये शिकायतें ज्यादा बढ़

जाती हैं। ज्वर १०४।५° डिगरी तक हो जाता है, पेट में असह्य पीड़ा होती है. मल के साथ खून निकलता है, टट्टी पतली होती है, जलन होती है, भोजन की विल्कुल रुचि नहीं रहती। तीसरी अवस्था में फेफड़ा आक्रान्त होता है, ज्वर नियमित रूप से आता है, पेट में शूल की पीड़ा होती है, मुँह और पांव सूज जाता है, सारा पेट कड़ा हो जाता है, खांसने से खून आता है, सर्वाङ्ग सूखने लगते हैं, तीसरे पहर सांस की तकलीफ बढ़ जाती है। अन्तिम अवस्था में सारा शरीर सूख जाता है, आंख, मुँह, पेट और पांव में सूजन होती है, ज्वर कभी नहीं टूटता, रोगी प्रलाप बकता है, नसें खींचती हैं, आदमी पहचानने और इन्द्रियों की शक्ति लोप हो जाती है और रोगी मर जाता है।

बहुमूत्र से भी रोगी यक्ष्मा से आक्रान्त होता है।

बहुमूत्र से— बहुमूत्र में पिशाब बहुत अधिक होता है, लेकिन रोगी को किसी तरह का कष्ट नहीं होता। पिशाब का रंग साफ होता है। उसमें दुर्गन्ध नहीं होती। आवश्यकता से अधिक या साध्यातीत परिश्रम, अत्यधिक शोक या बेहद स्त्री-प्रसंग से यह रोग होता है। इससे शरीर में जो जलीय अंश है, वह विकृत और स्थान भ्रष्ट होकर मूत्र मार्ग से पिशाब होकर

बाहर निकलने लगता है। शरीर का सोमधातु क्षय होने से रोगी बहुत ही कमजोर हो जाता है, चलने-फिरने की शक्ति कम हो जाती है और दिमाग शिथिल हो पड़ता है। संयमित रहने से और आहार-बिहार का ठीक-ठीक नियम पालन करने से रोगी को कुछ आराम मिलता है। किन्तु अनियम होने से तो रोग के सारे जटिल उपसर्ग उपस्थित होते हैं। जैसे, खांसी, अन्तदाह, कमजोरी कृषता, अरुचि, शीत-प्रियता, संताप आदि। पिशाब का रंग पीला हो जाता है और उसके साथ चीनी निकलती है। कभी-कभी हृदय में घाव भी होता है। इसलिये अनियम से बहुमूत्र के रोगी पर यक्ष्मा का आक्रमण शीघ्र ही होता है और खासतौर से फुफ्फुस की यक्ष्मा ही होती है। साधारणतया बहुमूत्र के रोगी को ज्वर नहीं होता, गो कि उसके शरीर में दाह होती है। सहसा यदि उसे ज्वर आने लगे, तो यक्ष्मा की सम्भावना समझनी चाहिये। बहुमूत्र से होने वाली यक्ष्मा के प्रारम्भिक उपसर्ग—खाँसी, खाँसी के साथ अधिक परिमाण में कफ निकलना, वीच-बीच में खून निकलना, ज्वर, हाथ-पांव में जलन, प्यास, उलटी की इच्छा, काम करने की अनिच्छा, बीच-बीच में पतला दस्त, कमजोरी, पीठ और छाती में दर्द, स्वरभंग, देह का रंग फीका पड़ना, वजन कम जाना आदि।

उत्पत्ति के कारण

ब्लड-प्रेसर से—

ब्लड-प्रेसर बड़ा जटिल रोग है और आज कल तो यह रोग बड़े जोरों से फैला है। आयुर्वेद के अनुसार यह रोग वायु और पित्त के बिगड़ने से होता है। साध्य से अधिक परिश्रम करना, ज्यादा स्त्री-प्रसंग, अत्यधिक शराब पीना, अधिक चिंता, चाय पीना आदि कारणों से इस रोग की उत्पत्ति होती है। ब्लड-प्रेसर के रोगियों की आँखे सदा-सर्वदा लाल रहती हैं, नींद कम होती है, सिर में जलन होती है और चक्कर आता है, कमजोरी मालूम होती है, भीतर बहुत गर्मी अनुभूत होती है, काम में जी नहीं लगता। इन सब लक्षणों के प्रकट होने पर यदि रोगी चिकित्सा में त्रुटि करता है, या नियम से नहीं रहता तो धीरे-धीरे खाँसी शुरू होती है। खाँसी के साथ ही हलका ज्वर आना आरंभ होता है। परिणाम-स्वरूप रोगी दिन-प्रतिदिन क्षीण और दुर्बल हो पड़ता है। जब कुछ दिन और बीत जाते हैं, तो सहसा किसी दिन खून के छींटे कफ में दिखायी पड़ते हैं। ज्वर की मात्रा भी बढ़ती जाती है। शरीर के भीतरी भाग में कभी-कभी तो रोगी को इतनी ज्यदा गर्मी मालूम पड़ती है कि बर्फ में सुला देने पर भी उसे शांति नहीं मिलती। चूँकि ब्लड-प्रेसर में पित्त का प्रकोप ज्यादा होता है, इसलिये इससे होने वाली यक्ष्मा में भी पित्तज यक्ष्मा के ही लक्षण पाये जाते हैं।

ब्लड-प्रेसर से होने वाली यक्ष्मा के प्रारम्भिक लक्षण—सारे शरीर में जलन, हलका अनियमित ज्वर, खून की उलटी, शरीर क्षीणता, मस्तिष्क में गर्मी, रक्त हीनता, देह के वजन का क्रमशः कम होना, दमे के आसार, कार्य में उत्साहहीनता, मुँह का रङ्ग काला हो जाना, अरुचि, सूखी खांसी, छाती और पीठ में सटने का सा अनुभव आदि-आदि।

ब्लड-प्रेसर के रोगी में जब प्यास, खांसी के साथ खून आना, कभी-कभी ज्यादा रक्तपात, अरुचि, दाह आदि लक्षण दिखायी दें, तभी समझना चाहिये कि यक्ष्मा का आक्रमण हो चुका। ऐसी दशा में चिकित्सा में असावधानता कदापि नहीं होनी चाहिये। बहुत समय चिकित्सक की असावधानता ही रोगी के भाग्य के सूर्य को अस्त कर देता है। ऐसा देखा गया है कि बहुत-से चिकित्सक रोगी का भोजन बंद कर देते हैं और उसके लिये जुलाब की व्यवस्था करते हैं। फल यह होता है कि रोगी की रही-सही शक्ति भी क्षीण हो जाती है, यहां तक कि बातचीत में भी वह हांफ उठता है। ब्लड-प्रेसर से फुफ्फुस की यक्ष्मा होती है।

फुफ्फुस कोष-गुच्छ ।
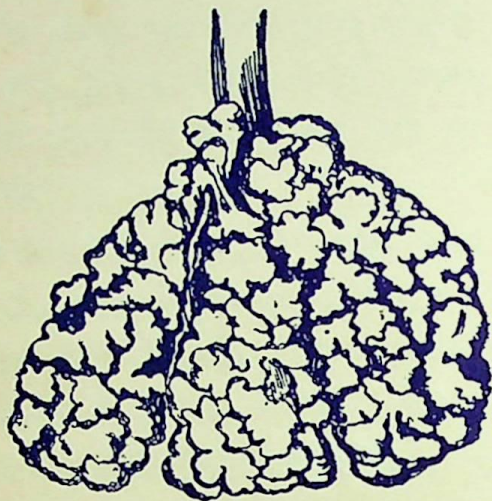
अतिरिक्त स्त्री-प्रसंग, बहुत अधिक परिश्रमजनक व्यायाम, बहुत तेजी से दूर तक पैदल चलना, तेज गाड़ी से प्रति दिन यात्रा, मुद्गर भाँजना, कारखाना आदि में परिश्रम-साध्य काम करना आदि कारणों से फेफड़े या वक्षस्थल का कोई अंश फट जाता है और मुंह की राह बेतरह खून बहने लगता है। इस कारण इसके प्रतिकार की व्यवस्था यथाशीघ्र ही होनी चाहिये, वरना वक्षस्थल का वह क्षत धीरे-धीरे सारे फेफड़े को नष्ट कर देता है और रोगी की अवस्था शोचनीय हो उठती है। मुँह से इस प्रकार ज्यादा खून आने के और भी बहुत-से कारण हो सकते हैं, यथा तीखी धार के प्रतिकूल बलपूर्वक तैरना, कुश्ती, वजनदार वस्तु उठाना आदि। इसके बाद यदि रोगी को सावधानता पूर्वक न रक्खा जाय, तो एकमात्र इसी लक्षण से खाँसी, बुखार, आदि अन्य सारे जटिल उपसर्ग एक-एक कर प्रकाश पाते हैं और बीमार की हालत नाजुक हो उठती है।

छाती के क्षत से—

धन हानि, मान हानि, वियोग का दारुण दुःख, दुस्सह मानसिक चिंता, वांछित वस्तु का न पाना, पुष्टिकर खाद्य का अभाव, ईर्ष्या, अवैध उपाय से शुक्रस्खलन आदि कारणों से शरीर में

शुष्कता से—

वायु बढ़ती है और रोगी शुष्क होने लगता है। ऊपर बताये गये कारणों में से प्रत्येक ऐसा है, जो बाहर से भली तरह स्पष्ट नहीं होता, किंतु भीतर ही भीतर रोग के बीज बोता है। साधारणतया हम देखते हैं कि एक आदमी, जिसे किसी भी प्रकार की शिकायत नहीं, एकाएक कमज़ोर और दुर्बल हो पड़ता है। दैनंदिन जीवन के सभी काम उसके ठीक-ठीक चलते ही रहते हैं, फिर भी उसके शरीर की कांति फीकी पड़ जाती है, शक्ति घट जाती है और स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। धीरे-धीरे रोगी की हड्डियाँ इतनी उभर आती हैं कि एक-एक कर गिन ली जायँ। कमजोरी उसे दबा देती है, यहाँ तक कि जरा-सी मिहनत में उसका दम फूलने लगता है। इसी के साथ-साथ हल्की खाँसी, हलका बुखार होता रहता है। इन सारे कारणों के मूल में वायु का विकृत होना है। वायु के विकार से तीन मन वजन का आदमी सिर्फ तीन महीने में तीस सेर का रह जाता है, ऐसा विशेषज्ञों का कहना है।

ऊपर हमने उन मुख्य रोगों का जिक्र किया है, जिनसे अवस्था विशेष में यक्ष्मा की उत्पति होती है। लेकिन, इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि गिने-गिनाये इतने ही रोग हैं, जिनसे यक्ष्मा का आक्रमण हो सकता है।

इनफ्लुएंजा, दमा, क्रॉनिक ब्रोंकाइटिस, ग्रंथी, गंडमाला, अपची, संग्रहणी, शूल आदि रोगों से भी अवस्था विशेष में यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। हो सकता है, समायानुसार कुछ अन्य ऐसे कारणों का पता चले, जो अभी लोगों को ज्ञात नहीं हैं। इस अध्याय में हमने स्त्रियों की यक्ष्मा, उसकी उत्पत्ति आदि आवश्यक विषयों का उल्लेख नहीं किया है। किसी स्वतंत्र अध्याय में विस्तृत रूप से इसकी चर्चा की जायगी। अगले अध्याय में हम अंग-प्रत्यंग की यक्ष्मा की चर्चा करेंगे।

* *

*

२

यक्ष्मा की प्रारंभिक अवस्था

साधारणतया यक्ष्मा का सहज ही पता नहीं चलता। कभी-कभी कफ फेंकते समय एकाएक खून के छींटे कफ में दिखायी देते हैं। लेकिन, खून के छींटे देख कर ही किसी को यह धारणा नहीं होती कि यह यक्ष्मा की सूचना है। लोग समझते हैं, शायद मसूड़ों से खून गिरा हो या खाँसते हुए गला फटकर खून निकलता हो। कई लोग ऐसा भी कहते हैं कि टॉन्सिल फटकर भी लोहू निकला करता है। फलतः, यह चिंता का कारण नहीं होता और लोग रोग की आशंका भूल कर अपने दैनंदिन जीवन के काम-काजों में लग जाते हैं। वास्तव में सूचना में ही लोगों की ग़लती हुआ करती है। प्रथम अवस्था में बहुत बार रोगी की छाती और कफ की जाँच की गयी है। जाँच के बाद देखा गया है कि उनमें रोग के बीजाणु नहीं हैं। किंतु यह एक चिकित्सक का इतना बड़ा उत्तरदायित्व है कि संतोष कर लेने की बात नहीं। रोगी की हर बातों, हर लक्षणों

रोग की सूचना—

की बड़े ध्यान से परीक्षा करनी चाहिये, फिर किसी निष्कर्ष पर आना ज्यादा उत्तम हो।

ज्यादा खून आना—

पहली ही सूचना पर रोगी यदि अच्छे चिकित्सक की देख-रेख में नहीं रहता और दवा-दारू या नियम-संयम का ध्यान नहीं रखता है, तो इसका परिणाम बहुत ही बुरा होता है। कुछ दिन असंयम के बाद एक दिन सहसा बहुत अधिक खून की उलटी आती है। यद्यपि यक्ष्मा का यह उपसर्ग बहुत अनुकूल नहीं, फिर भी अभी रोग परिश्रमसाध्य रहता है। लेकिन, चिकित्सा में साधारणतया लोग ऐसी अवस्था में भी भूल करते हैं। जब इस अवस्था में रोगी चिकित्सक के यहाँ हाजिर होता है, तो चिकित्सक बिना जाँचे बूझे ही रोग को 'रक्तपित्त' समझ लेते हैं। यक्ष्मा के इस प्रारंभिक लक्षण से रक्तपित्त का भ्रम होना कुछ अस्वाभाविक नहीं, क्योंकि रक्तपित्त के लक्षण से इसका बहुत अधिक सामंजस्य है। किंतु जिम्मेदार चिकित्सक, जिस पर रोगी के जीवन-मरण का फैसला है, बिना बूझे-समझे रोग का इलाज कदापि नहीं शुरू करता।

बहुत अधिक सामञ्जस्य होने पर भी रक्तपित्त और यक्ष्मा अलग-अलग रोग हैं। रक्तपित्त में पित्त की प्रबलता होती है। इस कारण ज्यादा खून की उलटी आती है। मगर, इस उलटी में कफ नहीं होता, जो यक्ष्मा की सबसे बड़ी पहचान है। यक्ष्मा के रोगी को बुखार आता है। रक्त-पित्त के रोगी को नहीं। इनके अलावा खाँसी, भीतर की जलन आदि बहुत-से ऐसे उपसर्ग हैं, जो रक्तपित्त के रोगी में नहीं पाये जाते। दोनों ही रोगों में खून की कै होती है जरूर, किन्तु कै का प्रभाव दोनों का एक जैसा ही नहीं पड़ता। रक्तपित्त के रोगी को खून की उलटी से आश्वस्ति मालूम होती है, जब कि यक्ष्मा का रोगी उससे अशांति, दुर्बलता और घबराहट बोध करता है। यक्ष्मा के रोगी की नाड़ी में हर समय एक क्षयज चंचलता मौजूद रहती है, जो रक्तपित्त की नाड़ी की गति से सर्वथा भिन्न रहती है। हाँ, इतना अवश्य है कि रक्तपित्त भी बहुत समय यक्ष्मा का रूप धारण कर लेता है।

रक्त पित्त और यक्ष्मा में अन्तर—

इसलिये अधिक खून की उलटी आने पर चिकित्सक को बहुत अधिक सावधानता से काम लेना आवश्यक है, वरना लेने के देने पड़ जाते हैं। यह भी कोई बात नहीं कि कफ के साथ खून गिरने से यक्ष्मा ही हो। लेकिन

उलटी चिकित्सा का परिणाम—

अनुमान से रक्तपित्त की चिकित्सा प्रारंभ कर देना भी उचित नहीं। सुचिकित्सक का उत्तरदायित्व यहीं बहुत बढ़ जाता है। अगर चिकित्सक ऐसी दशा में रोग को रक्तपित्त समझ कर उसी की चिकित्सा आरंभ कर दे, तो रोगी की हालत नाजुक हो पड़ती है। चिकित्सा में काफी दिन निकल जाते हैं। लोहू गिरना बन्द हो जा सकता है, लेकिन वक्षस्थल का घाव, जो इस रोग का सारात्मक अंग है, कदापि नहीं भर सकता। अपितु, जितना ही समय बीतता जायगा, वह घाव और बढ़ता ही जायगा और धीरे-धीरे ज्वर, श्वास चलना, खाँसी, शुष्कता, दुर्बलता, अजीर्णता आदि अन्य उपसर्ग दिखायी देने लगेंगे।

सूखी खाँसी—

खाँसी यक्ष्मा रोग का एक खास और कष्टदायक उपसर्ग है। गले में खुसखुसी उठती रहती है और रोगी खाँसते-खाँसते परेशान हो जाता है। यक्ष्मा की पहली अवस्था में सूखी खाँसी होती है, अर्थात् खाँसने पर कफ नहीं निकलता। धीरे-धीरे यह खाँसी इतनी बढ़ जाती है कि रोगी सारी रात में पलक भी नहीं मार सकता। बेचैनी बढ़ जाती है। गले के चारों तरफ फुंसियाँ निकल आती हैं। धीरे-धीरे ज्वर आना शुरू होता है। तापमान क्रम से बढ़ने

ही लगता है। कुछ दिनों के बाद खाँसने पर थोड़ा थोड़ा खून आता है, बुखार, स्वरभंग अरुचि और रात को पसीना आना आदि उपसर्ग प्रकट होते हैं। खून गिरने की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ने लगती है और लक्षण भी क्रमशः बदलते और जटिल होते जाते हैं। रोगी को छाती और पीठ में दर्द शुरू होता है, साँस लेने में तकलीफ होने लगती है।

रक्तपात—

रक्तपात यक्ष्मा का जितना ही भयंकर उपसर्ग है, उतना ही विचित्र भी है। बराबर ही रक्तपात हो, ऐसा सदा नहीं हुआ करता। प्रथमावस्था में बहुत थोड़ा रक्त निकलता है, धीरे-धीरे रक्त का परिमाण बढ़ता है। किंतु अवधि उसकी निश्चित नहीं होती। जैसे आज रोगी को खून की जबर्दस्त उल्टी हुई। अब पूरे दो साल तक खून का आना बिल्कुल बंद हो गया। दो साल के बाद फिर एकाएक एक दिन बहुत अधिक खून निकला। खून मुंह से या नाक से या मुंह, नाक दोनों से ही निकलता है। जब रक्तपात होता है, तो रोगी को कुछ शांति-सी मिलती है; उसे कुछ-कुछ-आराम मिलने लगता है। परंतु कुछ दिनों के बाद, किसी उपसर्ग के नहीं होते हुए भी, उसे फिर एक तरह की बेचैनी मालूम होने लगती है। और, यह बेचैनी

तभी दूर होती है, जब रोगी को फिर से खून की उलटी होती है। ऐसी अवस्था में रोगी को न तो ज्वर रहता है, न कोई अन्य लक्षण ही यक्ष्मा के उसमें दिखायी पड़ते हैं।

रक्तपात की चिकित्सा—

एक बार अधिक रक्तपात हो जाने पर जिस अवधि तक रोगी को फिर रक्तपात नहीं होता, वह बहुत आराम से रहता है। उसे रोग का भान भी नहीं हो सकता। फिर दुबारे जब सहसा ज्यादा लोहू गिरने लगता है, तो चिकित्सक साधारणतया रक्तपित्त की चिकित्सा आरंभ कर देते हैं और उनकी ऐसी चेष्टा रहती है कि किसी भी उपाय से रक्तपात बंद कर दिया जाय। यह बहुत ही हानिकारक है। रक्तपात को सहसा बंद कर देने से फेफड़े का घाव बढ़ने लगता है, कभी-कभी उसका सड़ना भी आरम्भ हो जाता है। फलस्वरूप ज्वर, खाँसी आदि बढ़ जाती है और रोगी का दिमाग भी गर्म हो जाता है। इसलिये विज्ञ चिकित्सकों का यह कर्तव्य होना चाहिये कि इलाज से पहले सावधानता पूर्वक इस बात की जांच कर लें कि रक्तपात का असली कारण क्या है। यक्ष्मा, रक्तपित्त या फेफड़े के घाव से रक्त बहता है या इसका कोई अन्य ही कारण है।

यक्ष्मा के भयंकर उपसर्गों में से एक है ज्वर। शरीर को कृष कर देने की क्षमता ज्वर से अधिक शायद ही किसी रोग में है और यक्ष्मा में शरीर की कृषता इसी ज्वर के कारण चरम को पहुंच जाती है। यक्ष्मा में ज्वर का आना आवश्यक-सा है। प्रारम्भिक अवस्था में किसी-किसी को बहुत ही हलका ज्वर आता है। दिन के तीसरे पहर शरीर शिथिल सा हो पड़ता है, आँखें कुछ-कुछ लहरने लगती हैं, सिर खुजलाता है, आलस घेर लेता है और असाधारण थकावट मालूम होने लगती है। ज्वर का तापमान निन्यानवे से लेकर सौ डिगरी तक होता है। किसी-किसी को तो १०२, ३ या ४-५ डिगरी तक भी ज्वर आ जाता है। बाज-बाज का ज्वर रात के नौ-दस बजे तक उतर जाता है, किसी-किसी का बिल्कुल नहीं उतरता, सिर्फ सवेरे तापमान कुछ कम हो जाता है। इस हलके ज्वर से बहुत हानि होती है। रोगी संयम से रह नहीं सकता है। परिणामस्वरूप उसका शरीर कमजोर और दुबला होता जाता है और धीरे-धीरे अन्य उपसर्ग भी प्रकट होने लगते हैं। ज्वर के साथ रात में पसीना आना आदि उपसर्गों को देख विज्ञ चिकित्सक रोग की पहचान आसानी से कर सकते हैं। परंतु यदि शुरू से ही ज्वर सान्निपातिक अथवा त्रिदोषज-सा प्रतीत होता है, तो स्वभावतया

यक्ष्मा का ज्वर—

चिकित्सा में कठिनाई होती है। ऐसी दशा में ज्वर दूर करने की ओषधियों का व्यवहार रोगी के लिये लाभ-जनक न होकर हानिकर ही होती हैं। क्योंकि ज्वर-नाशक जितनी भी दवाएँ हैं, सब आमरस को पचाने वाली होती हैं, जिससे शरीर और भी दुबला होता है। इसलिये यक्ष्मा के ज्वर की चिकित्सा साधारण ज्वर की तरह कदापि नहीं करनी चाहिये।

आम तौर से रक्तपात को ही लोग यक्ष्मा का सर्व प्रधान उपसर्ग मान बैठते हैं। किंतु, यह धारणा भूल है। यक्ष्मा के ऐसे भी रोगी देखे गये हैं, जिन्हें मृत्यु पर्यन्त कभी लोहू की उलटी नहीं आयी, न नाक से ही खून गिरा। ऐसे रोगी सदा हलके बुखार से ही पीड़ित रहा करते हैं और जब धीरे-धीरे उनका शरीर सूख कर काँटा हो जाता है, तो बात स्पष्ट हो जाती है कि रोग यक्ष्मा ही है। रक्तपात हीन यक्ष्मा की पहचान आसानी से नहीं हो सकती। एक्स-किरण की परीक्षा या थूक की जाँच करने पर भी ऐसे सभी रोगी में यक्ष्मा के बीजाणुओं का पता नहीं चलता। जब रोगी की हालत नाजुक हो जाती है, तब चिकित्सा का परिणाम भी 'क्या वर्षा जब कृषी सुखाने' का होता है। ऐसी दशा में अनुभव और रोगी की नाड़ी की गति से ही रोग को चिकित्सक पकड़ सकते हैं।

रक्तपातहीन यक्ष्मा–

यक्ष्मा की प्रारंभिक अवस्था के और भी बहुत-से उपसर्ग हैं। जिनमें स्वरभंग और गले की ग्रंथियों का सूजन भी प्रमुख हैं।

स्वरभंग—

प्राथमिक दशा में रोगी के गले के भीतर की तथा बाहर की गिलटियाँ सूज जाती हैं। किसी-किसी का गला तो गिलटियों से भर ही जाता है। गिलटियों के साथ ही शुरू होता है ज्वर और शरीर की शीर्णता। स्वरभंग भी एक ऐसा ही खौफनाक उपसर्ग है। इसकी भयंकरता का अनुमान तो इससे किया जा सकता है कि किसी-किसी रोगी से खाया तक नहीं जा सकता। पानी का घूंट पीने में कष्ट हो जाता है। स्वरभंग सर्दी से शुरू होता है। गले की गिलटियाँ सूज उठती हैं, ज्वर आना शुरू होता है, शरीर का दुर्वल होना आरंभ होता है, खाँसी और श्वास का कष्ट होता है। कभी-कभी तो रोगी को कैन्सर के रोगी की तरह खाना भी मुश्किल हो जाता है और निराहार पड़े-पड़े ही उसे अन्तिम साँस लेनी पड़ती है। स्वरभंग से ही बहुत समय गलनाली की यक्ष्मा का भयंकर रोग होता है। स्वरभंग से अनेक अन्य उपसर्ग उपस्थित होते हैं। फलस्वरूप रोगी को जान के लाले पड़ जाते हैं। अतएव, इस उपसर्ग के उपस्थित होते ही विज्ञ चिकित्सक की शरण में जाना रोगी का पहला कर्तव्य है।

⚜ ⚜

३

यक्ष्मा की मध्य, शेष और अन्तिम अवस्था

मध्य अवस्था

पहले अध्याय में हमने यक्ष्मा के प्राथमिक स्वरूप का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया है, उसके बाद प्रसंगवश रोग की उत्पत्ति के कारण आदि विषयों का उल्लेख किया है। यक्ष्मा के बाद की अवस्थायें इसी कारण कहने से रह गयीं। इस अध्याय में हम इसकी मध्य और अन्तिम अवस्था का विवरण देंगे। ग्रन्थ का कलेवर न बढ़ा कर इस अध्याय में हम सिर्फ अवस्था और उसके लक्षणों का संक्षिप्त वर्णन देकर ही सन्तोष करेंगे। पिछले अध्यायों में यक्ष्मा के प्रकार आदि विषयों पर प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिये वहाँ उन्हीं लक्षणों का उल्लेख किया जायगा, जो साधारणतया सभी प्रकार की यक्ष्मा की मध्य अवस्था में दिखाई पड़ते हैं।

द्वितीय अवस्था में रोग की पहचान में किसी तरह की कठिनाई नहीं रहती, जैसी कि पहली अवस्था में रहा

करती है। इसमें रोग के जो-जो लक्षण या उपसर्ग प्रकट होते हैं, उनसे कोई संदेह ही नहीं रह जाता कि रोग यक्ष्मा नहीं है। फिर उसकी चिकित्सा में भी किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती। अगर पहली अवस्था में रोग की ठीक-ठीक पहचान हो सके, तो चिकित्सा से वह अति शीघ्र आराम हो सकता है। किंतु, यक्ष्मा की यह खासियत है कि शुरू-शुरू रोग का ठीक-ठीक अनुमान करना असम्भव हो जाता है। कभी-कभी तो एक्स-किरण की जांच भी बेकार हो जाती है। विज्ञ चिकित्सक भी भ्रम में पड़ कर दूसरे-दूसरे रोगों की चिकित्सा शुरू करने को वाध्य हो जाते हैं। इसलिये कि इसके प्रारम्भिक लक्षण अन्य कई दूसरे रोगों के प्रारम्भिक या प्रवृद्ध लक्षणों से हूबहू मिल जाते हैं। इसलिये हमारे भ्रम से ही रोग दूसरी अवस्था में जा पहुंचता है। थोड़ी सी असावधानता ही रोग की जड़ को एक बारगी मजबूत वना देती है।

जो भी हो, इस अध्याय में हम उन विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख करेंगे, जो लगभग सभी प्रकार की यक्ष्मा में एक से प्रकट होते हैं। जैसे, खांसी, खून आना, ज्वर, अरुचि, स्वरभंग, वमन, कफ निकलना आदि। ये यक्ष्मा के ऐसे लक्षण हैं, जो दूसरी अवस्था में सिर्फ प्रकट ही नहीं होते, बल्कि बेतरह बढ़ जाते हैं।

खाँसी यक्ष्मा का सब से बढ़ा कष्टदायक उपसर्ग है। इसकी जटिलता सब से पहले ध्यान देने की चीज है। यक्ष्मा के किसी भी प्रकार में यह कष्ट कारक होती है। बाज-बाज में तो यह रोगी को अस्थिर कर देती है। जैसे, गलनाली की यक्ष्मा में खाँसी से रोगी के कष्टों का अन्त नहीं रहता। एक तो गले के सतों से बेचारे का खाना, बोलना, सब मुहाल हो जाता है, तिस पर हरदम खाँसी होती रहती है। पहली अवस्था में खाँसी होती है सही, मगर उतना कष्ट नहीं देती, जितना कि रोग की दूसरी अवस्था में। क्योंकि दूसरी अवस्था में कई कारणों से खाँसी की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है। अगर विज्ञ चिकित्सक यथाशीघ्र इसके प्रतिकार का पूर्ण प्रयत्न न करें, तो और-और कष्टों के बढ़ जाने की सम्भावना रहती है। ऐसी दशा में ज्यादा सम्भव होता है कि फेफड़े का घाव बढ़ जाय और अधिक खून आने लगे। दूसरी अवस्था में खाँसी की मात्रा बढ़ जाने के बहुत से कारण हैं। सब से पहला कारण तो फेफड़े के ऊपर या भीतर के घाव का बढ़ जाना है। (२) फूफू-फुस में खुजली की तरह फुन्सियाँ निकल आती हैं, जिनमें खुजलाहट पैदा होने से भी खाँसी बढ़ती है। (३) वायु और कफ के कारण फेफड़े में जो गांठें-सी पड़ जाती हैं, उनके बढ़ने से भी खाँसी बढ़ती है। (४)

खाँसी—

फेफड़े में जो कफ रहता है, वह वायु के प्रकोप से जब सूख जाता है, तो खाँसी होती है। (५) फेफड़े का कफ जब तरल हो जाता है, तो उसके बाहर होने के लिये भी खाँसी आती है। (६) गलनाली की यक्ष्मा होने पर गले के भीतर चारों ओर ग्रन्थियों के बढ़ जाने से उनमें खुजलाहट पैदा होती है और इस कारण खाँसी होती है। (७) हृदय में घाव होने वाली यक्ष्मा में, जो लोहू भीतर जम जाता है, वह सड़ने लगता है, तो खाँसी बढ़ती है। (८) जब वायु की वजह से शरीर की सातों धातुएँ शोषित होती हैं, तो सूखी खाँसी बढ़ती है। (९) ज्वर या पारिवारिक कारणों से उत्तेजना बढ़ जाने पर भी खाँसी होती है।

बाज-बाज में खांसी बढ़ने का एक नियत समय होता है। जैसे, किसी-किसी की खांसी सबेरे, दोपहर याशाम को अधिक बढ़ती है। इसके भी कारण हैं। सबेरे उस रोगी की खाँसी बढ़ती है, जिस में कफ की या तरल कफ की मात्रा बहुत ज्यादा होती है। इसी तरह शोष और वायु का प्रकोप होने से तीसरे पहर खांसी की मात्रा बढ़ती है।

रक्तपात— कफ के साथ खून आना या खून की उलटी होना, यह यक्ष्मा का एक जटिल उपसर्ग है। और खून आने से ही साधारणतया रोग की पहचान होती है, गो कि बहुत समय चिकत्सकों

को इससे रक्तपित्त रोग का भ्रम भी हो जाया करता है। यक्ष्मा रोग का प्रारम्भ भी रक्तपात से ही होता है। शुरू शुरू थोड़ा रक्तपात होता है फिर बीच-बीच में रक्तपात होता रहता है। कभी-कभी शुरू के कुछ दिनों तक तो खून आता है, फिर कुछ दिनों के लिये, यहाँ तक कि पांच-छः महीने के लिये भी रक्तपात बिल्कुल बंद हो जाता है। विज्ञ चिकित्सकों को इसी अवस्था में विशेष सावधानता की आवश्यकता होती है। क्योंकि यह यक्ष्मा की सिर्फ एक प्रकृति है। खून बंद हो जाने का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि रोग से मुक्ति मिल गयी। जो ऐसा समझ कर चिकित्सा बंद कर देते हैं या अनियम शुरू कर देते हैं, उन्हें बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। क्षत और भी बढ़ जाता है, जिसका फल भविष्य में हर्गिज अच्छा नहीं होता।

रोग की दूसरी अवस्था में रक्तपात की दोनों ही हालतें देखी जाती हैं कि या तो खून की मात्रा कम जाती है या बढ़ जाती है। कभी-कभी एक-आध बार खून आकर वर्ष भर या उससे भी ज्यादा दिनों के लिये रुक जाता है और फिर सहसा खून का आना जारी हो जाता है। यक्ष्मा के ऐसे भी रोगी देखे गये है, जिन्हें रक्तपात की कभी नौबत ही नहीं आयी। खून की मात्रा या समय का साधारणतया कुछ ठीक नहीं रहता। दो ही चार दिन

के अंतर से रक्तपात हो, ऐसी भी बात नहीं, न ऐसा ही कुछ ठीक रहता है कि दो-चार महीने या वर्ष भर तक खून का आना बंद रहे। कभी तो केवल कफ के साथ खून के छींटे दिखायी देते हैं, कभी निखालिश खून की ही कै होती है। लेकिन, रक्तपित्त जनित यक्ष्मा में रक्तपात का ज्यादा होना जरूरी-सा है। यों यक्ष्मा की मध्य अवस्था में अधिक रक्तपात नहीं होता। रक्तपित्त में ज्यादा खून आते रहने से शीघ्र ही रोगी की हालत नाजुक हो जाती है। हृदय में क्षत होने वाली यक्ष्मा में भी रक्तपात की मात्रा अधिक हुआ करती है। रोग की पहली अवस्था में रक्तपात में खून का रंग घोर लाल हुआ करता है, जब कि मध्य अवस्था में कलछौंह। कभी-कभी जमे खून का टुकड़ा-सा ही बाहर आता है, या खून में फेन भी दिखायी पड़ता है।

गलनाली, अन्ननाली, फेफड़े की यक्ष्मा और हृदय के क्षत जनित तथा रक्तपित्त जनित यक्ष्मा में रक्तपात की मात्रा हर हालत में ज्यादा होती है। इसका भी निर्दिष्ट समय या परिमाण नहीं बताया जा सकता। अक्सर ऐसा देखा गया है कि हर दो-चार दिनों के बाद खांसने पर कफ के साथ थोड़ा-बहुत खून आ जाता है, फिर कुछ खास कारणों से, यथा—फेफड़े के घाव का बढ़ जाना, स्त्री सहवास आदि अनियम से हृदय पर आघात पाना,

एकाएक ज्वर या खाँसी का बढ़ जाना, पित्त या रक्त में विकार पैदा होना आदि। एक-एक महीने में या उससे कुछ कम या ज्यादा दिनों में रोगी को खून की उलटियाँ आती हैं। जो भी हो, इन कुछ खास प्रकारों को बाद देने पर यक्ष्मा की दूसरी अवस्था में कुछ दिनों के लिये रक्तपात बंद तो रहता ही है, उसका परिमाण भी पहले की अपेक्षा कम जाता है।

ज्वर—

यों तो ज्वर यक्ष्मा का एक अनिवार्य उपसर्ग है, किन्तु दूसरी अवस्था में यही उपसर्ग अत्यंत दारुण और प्रधान बन जाता है। खाँसी, रक्तपात और ज्वर, ये तीन भीतिप्रद उपसर्ग हैं। यक्ष्मा की पहली अवस्था में ज्वर का ताप वहुत अधिक नहीं उठता, न वह अधिक समय तक टिकता ही है। किंतु मध्य अवस्था में ज्वर का ताप १०६ डिगरी तक होते देखा गया है और उसके स्थापित्व की अवधि भी लंबी होती है। दूसरी अवस्था में लगभग दिन के दस बजे से धीरे-धीरे बुखार का बढ़ना शुरू होता है। रात के दस बजे तक यानी बारह घंटे में उत्ताप १०४° या १०५° डिगरी तक पहुंच जाता है। उसके बाद फिर भोर होते-होते बुखार एकदम उत्तर जाता है। ज्वर नहीं रहने से रोगी को बहुत आराम बोध होता है, किंतु उत्ताप बढ़ने के साथ-

साथ उसकी बेचैनी भी बढ़ती रहती है। ठंढा लगना, आँखों में लहर, देह में दर्द, खाँसी, सिर भारी होना, ये लक्षण ज्वर के साथ दिखायी देते हैं। कभी कभी ज्वर के खूब बढ़ जाने पर भी उपरोक्त यंत्रणादायक उपसर्गों में से कोई नहीं दिखायी देता।

दूसरी अवस्था में उत्ताप बढ़ने पर रोगी के लिये आराम की पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। क्योंकि उसे किसी तरह का शारीरिक या मानसिक परिश्रम का बड़ा बुरा परिणाम भोगना पड़ता है। यदि उसे कारणवश उत्तेजना, दुःख, शोक, संताप या श्रम हो, तो बात की बात में उत्ताप बहुत अधिक बढ़ जाता है। जिसका परिमाण कभी-कभी तो ज्वर १०६° डिगरी हो जाता है। इसी के साथ खाँसी, रक्तपात, श्वासकष्ट और बेचैनी शुरू हो जाती है।

एकाएक इतना अधिक उत्ताप देह के भीतर के घाव और क्षय के बढ़ने से होता है। ज्वर के साथ खाँसी का बढ़ना यक्ष्मा की दूसरी अवस्था का एक खास लक्षण है। यह ज्वर अक्सर तीसरे पहर बढ़ता है। क्योंकि यह रोग वायु का रोग है, और वायु का समय तीसरा पहर है। इसलिये तीसरे पहर के अंत या चौथे पहर के आरंभ में ही बुखार बढ़ता है। पित्त की प्रधानता होने पर दिन के दूसरे पहर और कफ की प्रधानता होने पर सबेरे से ज्वर का उत्ताप बढ़ता है। हर हालत में बारह घंटे के अंदर

बुखार कम जाता है। इस नियम के अपवाद स्वरूप भी रोगी पाये जाते हैं, जिन्हें दोनों ही समय बुखार आया करता है। जैसे सबेरे उत्ताप बढ़ा और शाम को घट गया; फिर रात के लगभग नौ-दस बजे बुखार आया, जो दो-तीन घंटे के बाद उतर गया। ऐसे भी रोगी देखे गये हैं जिन्हें सिर्फ दो ही तीन घंटों तक बुखार का कष्ट भोगना पड़ता है। इस तरह दोषों की कमी-वेशी या यक्ष्मा के स्वरूप के अनुसार बुखार के समय और परिमाण में अन्तर भी होता है।

अरुचि—

अरुचि यक्ष्मा का एक विशेष लक्षण है। रोग की पहली अवस्था में ही रोगी में अरुचि आती है। दूसरी अवस्था में आने पर तो यह और तीव्र हो उठती है, क्योंकि पहले से ही रोगग्रस्त होने के कारण रोगी के यकृत की शक्ति क्षीण हो पड़ती है। फिर रोगी को भोजन-सामग्री नाम को भी नहीं सुहाती। उसे भूख नहीं रहती, ऐसी भी बात नहीं। भूख रहती भी है, तो रोगी कुछ ग्रहण नहीं कर पाता। बलपूर्वक यदि वह खाने भी बैठ जाय, तो गिने-गिनाये कौरों में ही पेट भर जाने का अनुभव होता है। इस पर और जोर करके खाया नहीं जा सकता। कै कर देने को जी चाहता है। इस तरह कुछ दिनों तक खान-पान से जी हट जाने से

फिर अग्निमांद्य या क्षुधाहीनता घर दबाती है। अनाहार से अँतड़ियाँ इतनी कमजोर पड़ जाती हैं कि भूख भी नहीं लगती। अरुचि से धीरे-धीरे रोगी की दुर्बलता बढ़ती जाती है, क्योंकि शरीर के धातुओं के पोषक तत्वों का सर्वथा अभाव हो जाता है। फलस्वरूप क्षय शुरू होता है।

पेट और फेफड़े की यक्ष्मा में उलटियाँ खूब आती है।

उलटी—

यक्ष्मा की दूसरी अवस्था में प्रायः सभी प्रकार की यक्ष्मा में उलटियाँ आते देखी गयी हैं। यह उपसर्ग सब प्रकार से विशेष हानिकारक है। फेफड़े में ज्यादा कफ जमने या अधिक दिनों तक बुखार से पीड़ित रहने के कारण यकृत की क्रिया शिथिल पड़ जाती है। इसी कारण से उलटियाँ लगातार आती रहती हैं। लगातार उलटियों के आते रहने से रोगी को कुछ खाने की इच्छा नहीं रहती। या वह अगर कुछ खाता भी है, तो दूसरे ही क्षण उलटी होने से सब बाहर निकल जाता है। यह रोगी की दुर्बलता का एक प्रधान कारण है, जिससे क्षय की शीघ्रता से वृद्धि होती रहती है। एक दूसरी बहुत बड़ी हानि उलटियों से होती है कि छाती और गले पर लगातार जोर पड़ता है। बहुत समय इससे फेफड़े, कलेजे, हृदय या गले का घाव फट जाता है और खून जारी हो जाता है। राजयक्ष्मा में कै होना तो मारात्मक सिद्ध होता है।

यक्ष्मा की मध्य अवस्था में कफ से भी रोग की अवस्था की पहचान हो सकती है।

तरल कफ—

पहली अवस्था में जो कफ निकलता है, उसका रंग सफेद होता है और उसे पानी में डाल देने से तैरने लगता है। लेकिन, दूसरी अवस्था में कफ का रंग पीला होता है, क्योंकि रोग की वृद्धि से हृदयस्थित रस ही सड़कर कफ के रूप में बाहर आता है। इस कफ को पानी में डालने से डूब जाता है। दूसरी अवस्था में फेफड़े का जमा हुआ कफ भी सड़ जाता है। कफ का निकलना जारी रहने के कारण रोगी दिन-प्रतिदिन कमजोर हुआ जाता है। कभी-कभी हृत्पिंड में रस जमने के कारण वह सड़ने लगता है। रोगी को बुखार रहता है, खाँसी होती है, नाड़ी की गति तेज रहती है।

स्वरभंग यक्ष्मा का इतना कष्टदायक उपसर्ग है कि किसी-किसी रोगी को उसके कारण बात करने की भी शक्ति नहीं रह जाती। यों

स्वरभंग—

तो इसका प्रारंभ पहली अवस्था से ही होता है, परन्तु बहुत समय प्रवृद्ध अवस्था में ही स्वरभंग शुरू होता है। स्वरभंग में गले के भीतर की ग्रन्थियाँ या बाहर की सूजन बड़ी यन्त्रणादायक हो उठती हैं। उनकी वजह से खाँसी होने लगती है और रोगी को बात करने में अत्यन्त कठि-

नाई होती है। रोग-वृद्धि के साथ रोगी का श्वासकष्ट बढ़ता है और खाने की भी क्षमता लोप हो जाती है। वायु प्रधान यक्ष्मा के स्वरभंग में पीड़ा अधिक होती है। धीरे-धीरे रोगी अतिशय दुर्बल हो जाता है, ज्वर बढ़ता है, सिर भारी-भारी रहता है, खाँसी बढ़ती है और क्षय होता है।

इन उल्लिखित लक्षणों के अलावे श्वास-कष्ट, पार्श्व-संकोच, दाह, नाखून और बाल की शीघ्रता से वृद्धि, नैश-धर्म, वजन का ह्रास, दाँत का पीलापन आदि भी मध्य अवस्था में प्रकट होते हैं। जिनमें श्वास-कष्ट, पार्श्व-संकोच, दाह, नैश-धर्म आदि उल्लेख योग्य लक्षण हैं। इस अवस्था में रोगी का श्वास-कष्ट कभी-कभी इतना बढ़ जाता है कि रोगी का दम ही रुक जाता है। श्वास-कष्ट अधिकतर रात में ही बढ़ता है। और यह फेफड़े में कफ जमने के कारण ही होता है। पँजरों में विकृत वायु के प्रवेश करने से रोगी के दोनों तरफ के पँजरे सूख जाते हैं, जिससे करवट बदलना रोगी के लिये असम्भव हो उठता है। धीरे-धीरे रोगी की हड्डियाँ उभर आती हैं, शरीर झुक जाता है। कभी-कभी रोगी बैठ या उठ भी नहीं सकता। इस अवस्था में ज्वर के साथ-साथ शरीर की जलन भी बढ़ा करती है, पित्त प्रधान यक्ष्मा में दाह ज्यादा होती है। ब्लड-प्रेसर, रक्तपित्त, बहुमूत्र आदि से

होने वाली यक्ष्मा में भी दाह की मात्रा अधिक हुआ करती है। नैश-धर्म से भी रोगी की दुर्बलता क्रमशः वृद्धि प्राप्त होती है। रात के पिछले पहर रोगी के शरीर से पसीना छूटता है। यहाँ तक कि जाड़े की रातों में भी रोगी का बिछौना पसीने से भींग जाता है। रक्तपात और कफ की वृद्धि से रात को पसीना अधिक छूटता है। जीवनी-शक्ति का क्रमशः क्षय होने से दाँतों में पीलापन छा जाता है। चाहे रोगी के दाँत जितनी ही सावधानता से क्यों न धोवे जायँ, यह पीलापन दूर नहीं होता। बजन का कम होना तो क्षय के लिये अनिवार्य ही है। जीभ मैली रहती है और नाखून तथा बाल जरूरत से ज्यादा बढ़ते हैं। रोगी के हाथ-पाँव की अँगुलियाँ भी अपेक्षाकृत लंबी मालूम होती हैं।

ऊपर मध्य अवस्था में यक्ष्मा के जिन उपसर्गों का उल्लेख किया गया है, वे लगभग यक्ष्मा के सभी प्रकार में किसी न किसी रूप में अवश्य ही मौजूद रहते हैं। पहली अवस्था में ही रोग का ऐसा प्रतिविधान होना आवश्यक है कि उसे दूसरी अवस्था तक जाने का अवसर ही न मिले। किन्तु, कारणवश अगर पहली अवस्था में चूक हो जाय, तो इन लक्षणों के प्रकट होते ही सुचिकित्सा और नियम-संयम का सहारा लेना चाहिये, ताकि रोग चरम अवस्था तक न पहुँच जाय। क्योंकि चरम

अवस्था पर पहुँच जाने से फिर रोगी के जीवन की कोई आशा नहीं रह जाती।

तीसरी या चरम अवस्था

ज्वर, सर्वाङ्गीण शुष्कता, मलभेद, अरुचि, उलटी, आक्षेप, गला बन्द हो जाना, शोथ आदि यक्ष्मा की चरम अवस्था के लक्षण हैं। चाहे जिस प्रकार की यक्ष्मा हो, कम अधिक मात्रा में ये लक्षण अवश्य ही प्रकट होते हैं।

इसके पहले हम यह दिखा चुके हैं कि दूसरी अवस्था में ज्वर का परिमाण बहुत अधिक बढ़ जाता है, यहाँ तक कि कभी-कभी तो उत्ताप का परिमाण १०६° डिगरी तक जा पहुँचता है। लेकिन तीसरी अवस्था में ज्वर की हालत पहली अवस्था जैसी हो जाती है, अर्थात् ज्वर का उत्ताप बहुत कम हो जाता है। किसी भी हालत में १००° या १०१° डिगरी से ज्यादा उत्ताप नहीं होता। इस तरह बुखार के कम हो जाने से रोगी, चिकित्सक या रोगी के घरवाले, हो सकता है, हालत में सुधार समझ कर प्रसन्न हों, किन्तु दरहकीकत बात उलटी होती है। ज्यादा दिनों तक रोग से भोगते रहने के कारण रोगी की जीवनी-शक्ति एकबारगी क्षय हो

ज्वर—

जाती है। फलतः उत्ताप बढ़ने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

सर्वाङ्गीण शुष्कता— सर्वाङ्गीण शुष्कता इस रोग की तीसरी अवस्था का एक विशिष्ट लक्षण है। लगातार रोग-शय्या पर पड़े-पड़े रोगी का शरीर सूख कर कांटा हो जाता है। उसकी जीवनी-शक्ति संपूर्णतया नष्ट हो जाती है और धीरे-धीरे वह मृत्यु के राज्य की ओर अग्रसर होता रहता है। सभी अंगों की शुष्कता के होते हुए भी पाँव, कलाई और पेट में हलकी सूजन मालूम होती है। यह लक्षण रोगी के अन्तिम दिनों की सूचना है।

अतिसार— मलभेद या अतिसार इस अवस्था का एक विशेष लक्षण है। साथ ही अत्यन्त भयप्रद भी। क्योंकि मल में ही देह की शक्ति संचित होती है। जब अति मात्रा में तरलभेद शुरू होता है, तो रोग और क्लिष्ट रोगी की अवस्था शोचनीय हो पड़ती है। यक्ष्मा की चरम अवस्था में अतिसार का होना खास कारण है। इसके पूर्व बहुत दिनों तक रोगी को ज्वर आता रहता है, अरुचि और अग्निमांद्य की शिकायत रहती है। नतीजा यह होता है कि रोगी का यकृत बिगड़ जाता है, उसकी शक्ति लोप हो जाती है। उसके बाद किसी तरह का अनियम हुआ कि अतिसार शुरू हो जाता है।

पित्त के बिकार से भी तरलभेद होता है। जो भी हो, एक तो रोगी की हालत खुद ही जर्जर बनी रहती है, उसकी जीवनी-शक्ति का अधिकांश ही विनष्ट हो चुका होता है, शरीर कृश हो गया रहता है। उस पर ज्यादा परिमाण में दो-चार दस्त का आना मामूली बात नहीं। जीवन-मरण की समस्या उपस्थित हो जाती है। इसीलिये चरम अवस्था के अन्य सभी उपसर्गों से तरलभेद अधिक भया-वह है। बहुत समय तो तरलभेद होते-होते ही रोगी का प्राणान्त हो जाता है।

फेफड़े की अवस्था जब क्षय से अत्यन्त क्षीण हो पड़ती है, तो रोग अँतड़ियों में अपना प्रभाव फैलाता है। अँतड़ियों में आक्रमण होने से दो-एक दिनों तक बहुत अधिक परिमाण में पतला दस्त होता है। शुरू होने के बाद कई दिनों तक अवस्था शांत रहती है, क्योंकि दस्त वन्द हो जाता है। किंतु बाद में एका-एक फिर दस्त शुरू हो जाता है। रोगी अत्यन्त शिथिल हो पड़ता है, भूख नहीं लगती और जीवनी-शक्ति का अत्यधिक ह्रास होने के कारण रोगी की अवस्था कष्टदायक तथा अत्यन्त शोचनीय हो पड़ती है। इस समय बाज-बाज रोगी में क्षुधा-हीनता के बजाय शुरू-शुरू तीव्र क्षुधा की ज्वाला देखी जाती है। लेकिन, यह हालत बराबर बनी नहीं

रहती। दो ही चार दिनों के बाद भूख मन्द पड़ जाती है, भोजन की रुचि भी नहीं रह जाती।

अरुचि— अरुचि यक्ष्मा की सभी अवस्थाओं का एक विशेष उपसर्ग है। इसी अरुचि के कारण रोगी की दुर्बलता चरमसीमा को पहुँच जाती है। खाने की किसी भी वस्तु पर उसकी रुचि नहीं रह जाती। भूख होने पर भी—गो कि भूख भी रोगी को कम ही लगती है, क्योंकि उसके यकृत की शक्ति नष्ट हो जाती है—रोगी कुछ खा नहीं सकता। इसके साथ ही एक मुश्किल और बढ़ जाती है कि इस अवस्था में वायु उर्द्धगामी हो जाती है। वायु के उर्द्धगामी होने से हर घड़ी कै करने की इच्छा होती है, जी मिचलाता रहता है। फलतः बलपूर्वक रोगी यदि कुछ खा भी लेता है, तो कै कर देता है। बाज-बाज को तो रह-रह कर उलटी होती ही रहती है। दूसरी अवस्था में तो यह अरुचि का भाव इतना प्रबल हो उठता है कि रोगी को खाद्य-सामग्री की बू भी बर्दाश्त नहीं होती। उसकी गंध से ही उसे कै होने लगती है। इससे भी रोगी की दुर्बलता दिन-प्रति-दिन वृद्धि पाती है और शरीर भी लगातार क्षीण होता जाता है। अगर उलटी का दबाव अधिक पड़ा, तो अभ्यंतरस्थ क्षत के फट जाने की अधिक संभावना रहती है, जो और भी यंत्रणादायक है।

आक्षेप—

यक्ष्मा की चरम अवस्था में फुफ्फुस की अवस्था शोचनीय हो उठती है। साँस लेने और निश्वास छोड़ने में रोगी को बहुत अधिक कष्ट होने लगता है और वायु भी बढ़ जाती है। इसलिये आक्षेप या हाथ-पाँव का टूटाना शुरू होता है। मालूम होता है कि सर्वाङ्ग की नसों को खींच कर कोई एक जगह बटोर दे रहा हो। इससे इतनी अधिक यंत्रणा होती है कि जान-निकलती सी जान पड़ती है, आँखें कपाल पर उठ जाती हैं, हाथ-पाँव की नसें खींची जाती हैं. दम रुकने-सा लगता है। बहुत-से रोगियों को तीसरी अवस्था में प्रायः रोज ही आक्षेप की यंत्रणा भोगनी पड़ती है। अगर रोज न भी हो, तो भी इस अवस्था में किसी भी रोगी को इससे निस्तार नहीं मिलता।

गला बंद हो जाना—

कफ के कारण गला बंद हो जाना, इस अवस्था का एक अन्य आवश्यक और कष्टदायक उपसर्ग है। मालूम होता है, गले में हर-दम कफ जमा रहता है। इससे बातें करने, थूक का घूँट लेने, खाने आदि में रोगी के कष्टों का अन्त नहीं रह जाता। इस दशा में बहुत समय रोगी को भूख तो लगती है, किंतु गला बन्द होने के कारण कौर निगलना ही असंभव हो उठता है। किसी भी तरह की खाद्य-सामग्री

उससे नहीं निगली जाती। लगातार अनाहार के फल-स्वरूप रोगी की दुर्बलता आखिरी को पहुंच जाती है और इस तरह कुछ दिन निश्चेष्ट की नाईं खाट पर पड़े-पड़े एक दिन वह अंतिम साँसे ले लेता है।

शोथ—

एक लम्बे अर्से तक ज्वर-क्रांत रहने के कारण रोगी का यकृत, मूत्राशय और हृत्पिंड एक-बारगी निकम्मा हो जाता है, इसलिये शरीर में शोथ की उत्पत्ति होती है। यह शोथ सर्वाङ्ग में नहीं होता, बल्कि पाँव और मुँह में हुआ करता है। बहुत समय आँखों की पलकें और भौंहें भी शोथयुक्त देखी गयी हैं। पेट और फोते की सूजन भी अवस्था विशेष में देखी जाती है। जीवनी-शक्ति का क्षय होना ही शोथ का प्रधान कारण है। यों रोगी की सारी देह हड्डियों का ढाँचा भर रह जाती है, मगर उसकी आँखें छलछलाती रहती हैं। ऐसा ही मालूम होता कि अभी-अभी वे बरस पड़ेंगी। मुँह भी कुछ सूजा-सूजा-सा रहता है। तीसरी अवस्था में काफी परिमाण में पतली टट्टी आने के बाद, या उसके साथ ही साथ शोथ की उत्पत्ति होती है। यह बहुत बुरा लक्षण है। स्त्रीयों के मुंह और पुरुषों के पाँव की सूजन बुराई की सूचना है। पेट और फोते का फूलना भी एक मारात्मक लक्षण है।

यक्ष्मा की अन्तिम अवस्था

रोगी की मृत्यु जब उपस्थित होती है, तो वह अन्तिम अवस्था कहलाती है। बुझने के पहले दीपक एक जोरों की लौ लेता है और फिर धीरे-धीरे गुल हो जाता है। यक्ष्मा के रोगियों के मरणकाल में भी यही दशा देखी जाती है। वास्तव में रोग की तीसरी अवस्था ही चरम अवस्था है, उसके बाद मृत्यु-काल में तो अन्य सारे ही उपसर्ग स्वयं धीमे पड़जाते हैं या सब मौजूद भी रहते हैं तो अत्यन्त दुर्बलता के कारण रोगी उनका अनुभव ही नहीं कर पाता, क्योंकि उसकी अनुभव-शक्ति, जीवनी-शक्ति के साथ ही खो जाती है। यहाँ तक कि रोगी को दिन-रात के भेद का भी ज्ञान नहीं रहता। ज्वर का उत्ताप स्वाभाविकतया कम हो जाता है, किंतु रोगी भूल बकता है, उसकी स्मरण-शक्ति तो ऐसी लोप हो जाती है कि वह कोई बात शुरू भी करता है, सो खत्म नहीं कर पाता। बीच ही में किसी और बात को ले उड़ता है। इस अवस्था में यदि रोगी के हाथों में शोथ दिखाई दे, तो उसके जीवन की कोई आशा नहीं रहती। मरणासन्न होने पर हिचकी आना शुरू हो जाता है। बहुत बार साँस जोरों से चलने लगती है और गले में कफ जमा हो जाने की तरह एक प्रकार की घड़-घड़ाहट शुरू होती है। ऐसी अवस्था आ जाने पर सम-

झना चाहिये कि रोगी और कुछ ही क्षणों का मेहमान है। इस रोग में एक और हालत देखी जाती है कि रक्तपात से ही रोग की सूचना होती है और एका-एक रक्तपात से ही रोगी का जीवनांत भी हो जाता है। हम ऊपर कह आये हैं कि यक्ष्मा के ऐसे भी रोगी बहुत देखे गये हैं जिन्हें एक भी दिन खून नहीं आया। किन्तु अन्तिम अवस्था में उसे भी प्रचुर रक्तपात के साथ जीवन-प्रदीप बुझाना पड़ता है।

*   *

*

४

अंग-प्रत्यंग की यक्ष्मा

वर्तमान समय में यक्ष्मा ऐसी आम बीमारी-सी हो गयी है, कि बहुत कम ही ऐसे लोग मिलेंगे, जिन्हें इसकी जानकारी न हो। लेकिन एक बात ध्यान देने योग्य है कि साधारणतया यह फेफड़े की बीमारी समझी जाती है और आम लोगों को इस बात का ज्ञान शायद ही हो कि मानव-शरीर के विभिन्न अंगों में यक्ष्मा के आक्रमण होते हैं। परन्तु वास्तव में बात यही है। यक्ष्मा मनुष्य के अंग विशेष में भी होती है और समय पाकर वही मनुष्य के बहुत बड़े अनिष्ट का कारण होती है। पिछले अध्याय में हमने उन रोगों का परिचय दिया है, जिनको परिणति यक्ष्मा में हो सकती है या हुआ करती है। अब हम मानव-शरीर के विभिन्न अंगों में होने वाली यक्ष्मा का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करते हैं। यक्ष्मा के विषय में एक बात भूलने की नहीं कि इस रोग की जड़ है जीवनी-शक्ति का क्षय होना। जीवनी-शक्ति का क्षय होने से उसकी पूर्ति का ध्यान

यक्ष्मा
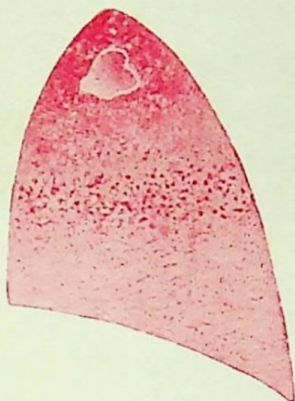
यक्ष्मा-रोग फुफ्फुस का विविध अवस्था ।

रखना जरूरी है, अन्यथा शुष्कता और शुष्कता से ही यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। चाहे जिस किसी अंग की यक्ष्मा क्यों न हो, उसके प्रारंभिक कारणों में इसकी प्रधानता है।

सबसे पहले फेफड़े की यक्ष्मा की चर्चा की जाय।

फेफड़े की यक्ष्मा— सर्व साधारण में इसी की चर्चा जोर-शोर से होती है और वास्तव में फेफड़े की यक्ष्मा के रोगियों की तादाद ही सबसे अधिक होती है। सबसे बड़े दुःख की बात तो यह है कि फेफड़े की यक्ष्मा नवजवानों या जवानों को ही अधिक होते देखी गयी है। सोलह से लेकर बत्तीस साल की उम्र के युवक इसके अधिक शिकार होते हैं। और युवकों के शरीर का क्षय इसमें बड़ी शीघ्रता से हुआ करता है। शुक्रजनित बीमारियाँ आज दिन युवक-समाज में घर कर गयी हैं और शुक्रक्षय की वजह से जो यक्ष्मा युवकों में फैलती है, वह बड़ी ही घातक होती है। देखते ही देखते वह राज-यक्ष्मा में बदल जाती है और रोगी को ले डूबती है। बड़े-बूढ़ों को फेफड़े की यक्ष्मा होती ही नहीं, ऐसी बात नहीं। होती जरूर है, लेकिन उनकी संख्या बहुत थोड़ी होती है। होने पर भी उनके साथ सुविधा यह है कि युवकों की तरह शीघ्रता से उनके शरीर का क्षय नहीं होता, न इतनी जल्दी उनके जीवन का आशा-दीप ही बुझता है।

हम ऊपर बता चुके हैं कि क्षय ही इस रोग का एक प्रधान उपसर्ग है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति नाना कारणों से क्षय होती है और उस पर यक्ष्मा के आक्रमण का अनुकूल, वातावरण तैयार होता है। देश की आबहवा पर भी रोगों का आक्रमण अवलम्बित है। हमारा देश ग्रीष्म प्रधान है। यहाँ की जलवायु ही ऐसी है कि शरीर क्षयग्रस्त होता है। अतिरिक्त गर्मी से निकलने वाले पसीने को हम यों कुछ नहीं समझते। किंतु पसीने से शरीर का बहुत ही क्षय होता है। गर्मी से भी शरीर का खून और रस सूखता है। तिस पर वर्तमान सभ्यता ने हमारे रहन-सहन, खान-पान, आचार-व्यवहार में इस तरह की क्रांति पैदा कर दी है कि हम तो उसमें भूले रहते हैं, किंतु आगे चल कर यह हमारे सर्वनाश का कारण सिद्ध होती है।

अनुलोम और विलोम क्षय—

आयुर्वेद के अनुसार अनुलोम और विलोम, ये दो प्रकार की यक्ष्मा फेफड़े की होती है। अनुलोम क्षय वह है, जो त्रिदोष (वायु, पित्त, कफ) से होता है। शरीर में रस संचार धमनियों द्वारा होता है। जब त्रिदोष उन रस बाहिनी धमनियों को रुद्ध कर देता है, तो रस, रक्त, अस्थि, मांस, मज्जा मेद आदि का क्षय होता है। क्योंकि

हम जो खाते हैं, पाकस्थली की पाकप्रणाली से उसका रूपांतर रस में होता है। वह रस धमनियों द्वारा सारे शरीर में फैलाया जाता है। त्रिदोष के प्रकोप से धमनियों द्वारा रस वहन रुक जाने से हृदय में रस विदग्ध होता है और खाँसी के साथ कफ के रूप में निकलता है। रस के शोषण से सारा शरीर सूखता है और इससे फेफड़े की यक्ष्मा होती है। विलोम क्षय का मूल कारण शुक्र-क्षय है। अवश्य, इसके और-और कारण भी हैं। शुक्र-क्षय होने से क्रम से रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद सब का क्षय होता है और इस तरह फुफ्फुस की यक्ष्मा होती हैं। अनुलोम और विलोम, दोनों ही प्रकार के क्षय में वायु धातुओं को शोषण करता है, जिससे शरीर का क्षय होता है।

कारण—

आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रंथ 'चरक-संहिता' में लिखा है कि विरुद्ध भोजन, अनुचित कार्यारंभ, मल मूत्रादि वेगधारण, शरीर का क्षय आदि कारणों से फुफ्फुस की यक्ष्मा का शिकार होना पड़ता है। वास्तव में ये कारण इतने साधारण हैं, कि लोग इन पर विशेष ध्यान नहीं दिया करते। परिणाम यह होता है कि इसी असावधानी के कारण एक ऐसी विपत्ति का ग्रास होना पड़ता है, जिससे सहज ही परित्राण नहीं मिलता।

शुष्कता से—

शरीर की शुष्कता या क्षय से फेफड़े की यक्ष्मा की सहज ही उत्पत्ति होती है। शरीर का क्षय धातुओं के क्षय से होता है। धातु सात हैं—रस, रक्त, मांस मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। भोजन के रूप में प्रति दिन हम जो ग्रहण करते हैं, उसका सार भाग रस में बदल जाता है। फिर रस से रक्त, रक्त से मांस, इस तरह मेद, अस्थि, मज्जा और अंत में शुक्र बनता है। शुक्र ही रस की अंतिम परिणति है और शरीर की सबसे मूल्यवान वस्तु यही है। शुक्रस्खलन से शरीर की अपार हानि होती है। इसीसे शरीर की कांति, गठन और क्रियाशीलता सदा बनी रहती है। जिसके शुक्रस्खलन अवैध रूप से होता है, उसकी जिंदगी किसी काम की नहीं रह जाती। उसकी स्फूर्ति, कांति और शक्ति सब कुछ नष्ट हो जाती है।

धातुओं के क्षय की एक विशेषता है, वह यह कि सात धातुओं में किसी भी धातु का क्षय क्यों न हो, उसकी पूर्ति बाकी छै धातुओं को करनी पड़ती है। नतीजा यह होता है कि एक के क्षय से अन्य छै धातुओं का भी किसी अंश में क्षय अनिवार्य हो जाता है। गर्मी के दिनों में जहाँ की हवा आर्द्रता खोकर हलकी हो जाती है, वह ऊपर को उठ जाती है और वहाँ की हवा-शून्यता दूर करने के लिये अन्य दिशाओं से हवा दौड़ती है।

धातुओं का स्वभाव भी इसीसे मिलता-जुलता है। एक की क्षति की पूर्ति के लिये स्वाभाविकतया अन्य धातुओं को थोड़ी-बहुत क्षति उठानी पड़ती है, जिसका प्रभाव शरीर और स्वास्थ्य पर बहुत बुरा पड़ता है।

खास-खास धातु के क्षय के कारण भी खास खास हैं। लेकिन विशेषतया इस और शुक्र क्षय जनित यक्ष्मा के रोगी ज्यादा देखने में आते है फिर तो एक धातु के क्षय से दूसरे का क्षय होना अनिवार्य हो जाता है। मानव-शरीर एक ऐसा यंत्र है; जिसके कल-पुर्जे को दुरुस्त रखने के लिये बहुत अधिक सावधानता की आवश्यकता है। धातु शरीर की मूल्यवान वस्तु है। अधिक दिनों तक उपवास करना, दुश्चिन्ता से घुलते रहना, शक्ति से बाहर परिश्रम करना, पढ़ना, पौस्टिक भोजन की कमी, ईर्षा, क्षोभ, शोक आदि से रस धातुका क्षय होता है। और शुक्रक्षय की तो बात ही नहीं। आये दिन इस मर्ज के मरीज बहुत मिलते हैं। शरीर की सबसे कीमती चीज़ की कद्र आजकल मामूली चीज़ के समान भी नहीं। जमाने की हवा ऐसी है कि इस ओर लोगों का ध्यान तब जाता है, जब वे सर्वनाश की चिता पर जा बैठते हैं। ब्रह्मचर्य की तो इस जमाने में कोई पूछ ही नहीं रही। अपना एक वह दिन था जब गुरुगृह में शिक्षा लेते हुए विद्यार्थी ब्रह्म-चर्य का पालन करते थे। अब तो वैसी बात ही नहीं

रही। ब्रह्मचर्य की अवहेलना की बदौलत शुक्रजनित ऐसे-ऐसे कठिन रोगों का मानव-समाज में उदय हुआ है, कि कहकर नहीं बताया जा सकता। शिक्षा और सामाजिक आचार का एक ऐसा उलटा प्रभाव इनदिनों देखने में आता है, जिससे दुर्दशा किस हद तक जा पहुंचेगी, नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, यहाँ इतना ही कहना अभीष्ट है कि शुक्रक्षय से फुफ्फुस की यक्ष्मा के आक्रमण की बहुत अधिक संभावना रहती है। शुक्रक्षय से रक्त, रस आदि अन्यान्य धातुओं का क्षय होता है और बाद में ज्वर, खाँसी, खून आना, अरुचि, आदि यक्ष्मा के और-और लक्षण प्रकट होते हैं।

वेग धारण से—

वेग धारण भी फुफ्फुस की यक्ष्मा का कारण है। वेग धारण से बहुत से लोग हमारा आशय न समझ सकेंगे। मल-मूत्र त्याग, छींकें, जम्हाई खाँसी अदि का वेग मनुष्य के लिये स्वाभाविक है। इस प्राकृतिक मांग की पूर्ति करने की इच्छा ही वेग कहलाती है और उसे रोकना ही वेग धारण है। जो चीज़ स्वभावजात है, जरूरी है, उसकी पूर्ति भो अनिवार्य रूपसे होनी चाहिये अर्थात् जब वेग उपस्थित हो, तो उस से निपट लेना ही लाभकर है। चिकित्सा-शस्त्र में इस विषय का विशेष महत्व बताया गया है। साधारणतया लोग

इन शिकायतों को बहुत मामूली समझते हैं और इन पर बिशेष ध्यान नहीं देते। स्वास्थ्य की दृष्टि से इनका क्या महत्व है, इससे कितनी हानियाँ हो सकती हैं, यह आसानी से समझा जा सकता है। मल मूत्र का वेग धारण करना एक साधारण-सी बात हो गयी है। विद्यार्थी और कर्मचारी वर्ग तो अपने जीवन में इसको कोई महत्व ही नहीं देते। काम की भीड़, समय के अभाव, स्थान की असुविधा आदि कारणों से वे प्रायः मल-मूत्र का वेग दबा लेते हैं। शहरों में आमलोगों के लिये पेशाबखाने और पाखाने काफी नहीं हैं, स्थान, पर जो हैं भी, वे इतने गन्दे हैं कि वहां जाने को भी जी नहीं चाहता। इसलिये शहर में जाने वाले लोगों को असुविधा से मल-मूत्र का वेग धारण करना ही पड़ता है। बहुत समय घृणा, लज्जा और भयसे भी लोगों को इन प्राकृतिक वेगों को दबाना पड़ता है, जिसका परिणाम बहुत बुरा होता है। शहरों में आज यक्ष्मा का जो भीषण तांडव हो रहा है, उसके मूल कारणों में से एक यह भी है। मल-मूत्र का वेग धारण करने से वायु की गति रुक जाती है और वह ऊपरकी ओर उठती है, जिससे शरीर के तीनों दोष कुपित हो जाते हैं, शरीर सूखने लगता है और आगे चलकर यक्ष्मा के लक्षण प्रकट होते हैं।

क्रीड़ा-कौतुक से—

बहुत समय व्यायाम और क्रीड़ा-कौतुक से भी फुफ्फुस की यक्ष्मा हो जाती है। खासकर आधुनिक व्यायाम और खेल-कूद से। जैसे फूटबाल का खेल। यह खेल आजकल बड़ा ही लोकप्रिय हो उठा है और वैज्ञानिक माना जाता है। यह खेल गर्मी के दिनों में खेला जाता है। हमारे यहां गर्मी अधिक पड़ती है। बिना मिहनत किये भी गर्मी बर्दास्त नहीं हो सकती। आम तौर से ग्रीष्मकाल में भारतवासियों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। क्योंकि बेतरह गर्मी की वजह से पसीने से देह लथपथ होती रहती है। पसीना बहने से शरीर कृष होता है और क्षयग्रस्त होता है। तिस पर फूटवाल बड़ी मिहनत का खेल है। प्रतियोगिता के लिये खेलवाड़ जीत में जान लड़ा देते हैं। परिश्रम बहुत अधिक पड़ता है। सांस भी ज्यादा चलती है और पसीना भी बेतरह बहता है। इसी तरह भार उठाना, कुश्ती में किसी अपने से बलवान से लड़ पड़ना, अत्यधिक साइकिल चलाना आदि कारणों से भी शरीर की दुर्बलता बढ़ती है और यक्ष्मा या राज-यक्ष्मा का शिकार होना पड़ता है। इसमें कभी-कभी तो कलेजा फट जाता है और मुँह की राह खून उबल पड़ता है। कलेजे का वह घाव ज्यादा दिनों तक रह जाने पर यक्ष्मा होती है। इस तरह के व्यायाम से फुफ्फुस की यक्ष्मा शीघ्र ही धर दबाती है।

फुफ्फुस की यक्ष्मा के और भी बहुत से कारण हैं। वेश्यागमन हस्त मैथुन, सुरापान, ऊँचे स्थान से कूद पड़ना रात्रि जागरण, स्टूडियो में अधिकपरिश्रम साध्य काम करना, आदि कारणों से भी फेफड़े में यक्ष्मा का आक्रमण होता है।

प्रारंभिक लक्षण—

जिसके फुफ्फुस में यक्ष्मा होती है, वह पहले-पहल छाती में एक दबाव-सा महसूस करता है। हल्की खाँसी होती है, जिसके साथ बलगम आता है। लेकिन बलगम का आना सब दशा में जरूरी नहीं। किसी-किसी को नाम का भी बलगम नहीं आता। छाती में दर्द का भी किसी को अनुभव होता है, किसी को नहीं भी होता। कफ के साथ कभी-कभी खून के मामूली छींटे भी दिखायी पड़ते हैं। तीसरे पहर रोगी की आँखों में लहर-सी होती है, सिर भारी हो जाता है, देह टूटती रहती है, काम-काज में बिल्कुल जी नहीं लगता। ज्वर यद्यपि इस रोग का एक प्रधान उप-सर्ग है, किंतु सभी रोगियों को बुखार नहीं रहता। बहुतों को तो इतना हलका बुखार रहता है कि मालूम ही नहीं होता। इसमें दर्द की सदा एक-सी हालत नहीं रहती। दर्द कभी छाती, कभी पँजरे और कभी गर्दन में होता है। हाथ-पांव में लहर, अरुचि, अग्निमांद्य, शरीर की शुष्कता आदि इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं। लेकिन कठिनाई इस

बात की है कि रोग के ये प्रारम्भिक लक्षण बहुत समय पकड़ में नहीं आते। जब रोग की जड़ मजबूत हो जाती है, तब एकाएक उसके जटिल उपसर्ग सामने आते हैं। लेकिन तब तक मर्ज लाइलाज हो उठता है।

बाद के लक्षण—

अगर प्रारम्भिक अवस्था में ही रोग की सुचिकित्सा हो तथा रोगी को नियम-संयम से रक्खा जाय, तो रोग दूर होने में विशेष कठिनाई नहीं होती। किंतु इसके बाद के लक्षण मारात्मक होते हैं। जैसे, सुबह की खाँसी, हर वक्त गले में खुसखुसी का रहना, खून, आना, स्वरभंग, कंधे और बगल में दर्द होना, रात में कम नींद आना तथा बुरे सपने देखना, शरीर का सूखकर लकड़ी-सा हो जाना, हड्डियों का निकल आना, खूनकी कमी और देहका रंग विवर्ण हो जाना, आँख का रङ्ग सादा हो जाना, दाँत साफ करने पर भी गंदगी अनुभव होना नाखून और बाल का जल्दी-जल्दी बढ़ना, हाथ-पाँव में जलन मालूम होना आदि फेफड़े की यक्ष्मा के जटिल उपसर्ग हैं।

विशेष बात—

साधारणतया फेफड़े में किसी कारण से घाव होना और उससे खून आना ही इस यक्ष्मा की प्रधान बात है। लेकिन इसकी एक यही अवस्था नहीं। बहुत बार ऐसा देखा गया है

कि फुफ्फुस में घाव होता ही नहीं। केवल दोनों फेफड़े धीरे-धीरे सूख जाते हैं और रोगी क्षयग्रस्त हो जाता है। फुफ्फुस में होनेवाला घाव भी सबका एक-सा नहीं होता, न सभी अवस्थाओं में उसका आकार ही एक-सा रहता है। फुफ्फुस के भिन्न-भिन्न भागों में बहुत-से घाव होते हैं या कभी-कभी घाव का आरम्भ फुफ्फुस की एक तरफ से होता है और आगे चलकर सारे फुफ्फुस को जर्जर कर देता है। मर्दको साधारणतया दहिने और औरत को बायें फेफड़े में यक्ष्मा होती है। हो सकता है, इस नियम का व्यतिक्रम भी अवस्था विशेष में होता हो, किंतु विशेषतया यही देखने में आता है।

सर्वदा खाँसी होते रहना, कलेजे में दबाव अनुभव करना, साँसलेने में कष्ट अनुभव करना, कै करने की इच्छा, भोजन की अनिच्छा, सड़ा कफ निकलना, कलेजे का बढ़ जाना और उसकी गति बहुत अधिक बढ़जाना, शुष्कता आदि कलेजे की यक्ष्मा के लक्षण हैं। साधारणतया कलेजे की यक्ष्मा से आक्रांत होता है, जिसके शरीर में कफ की अधिकता होने से शरीर में रस पहुंचाने वाली सारी धमनियां बंद हो जाती हैं। धमनियों के बंद हो जाने से हृदय में रस जमा हो जाता है, क्योंकि सारे शरीर में उसके फैलने

कलेजे की यक्ष्मा—

का कोई उपाय नहीं रहता। इससे धातु पुष्ट नहीं हो पाती और शरीर का क्षय होने लगता है। इस रस के जमा होने का एक कुपरिणाम यह भी होता है कि हृत्पिंड बढ़ जाता है, उसकी गति तीव्र हो जाती है और हृत्पिंड धीरे-धीरे सड़ने लगता है। फिर बुखार, स्वरभंग खाँसी, शुष्कता, अरुचि, श्वासकष्ट आदि उपसर्ग प्रकट होते हैं।

पँजरे की यक्ष्मा—

पँजरे में दर्द और उसके भीतर घाव होना, भार अनुभव करना, स्वरभंग, खाँसी, बुखार, कफ के साथ खून आना, दुर्बलता अरुचि, शुष्कता आदि पँज़रे की यक्ष्मा के प्रारंभिक लक्षण हैं। पँजरे की यक्ष्मा के साथ एक यह भी कठिनाई है कि सहज ही स्वाभाविक रोग का निर्णय नहीं हो सकता। एकाएक किसी कारण से—यथा, ठंढ लगना, रात जगना पँजरे में बड़ी कठिन पीड़ा शुरू होती है। यह पीड़ा संपूर्ण पँजरे में नहीं, बल्कि पँजरे के किसी अंश से शुरू होती है। लेकिन, धीरे-धीरे यह पीड़ा इतनी असह्य हो उठती है कि रोगी को खाट की शरण लेनी पड़ती है। ऐसी दशा में चिकित्सक साधारणतया इसे वायु या कफ जनित रोग समझ बैठते हैं और चिकित्सा भी उसी के अनुसार शुरू करते हैं। कहना फजूल है कि उस चिकित्सा का कभी सुफल नहीं होता, उलटे रोग और अपनी जड़ जमा लेता

है। जब धीरे-धीरे तीसरे पहर का ज्वर, रात्रि का पसीना, स्वरभंग, अरुचि, वेदना आदि अन्य उपसर्ग पूरी तरह प्रकाश पाते हैं, तो यक्ष्मा निस्सन्देह सिद्ध होती है। ऐसी अवस्था में कुछ दिन पड़े रहने पर पँजरे का क्षत क्रमशः बढ़ उठता है और वह फुफ्फुस में भी फैल जाता है।

मेरुदंड की यक्ष्मा—

मेरुदंड (रीढ़) की यक्ष्मा बड़ी खतरनाक होती है। इससे रोगी के सारे अंग शिथिल हो जाते हैं और ऐसा भी होता है कि बिछावन से रोगी उठ ही नहीं सकता। मेरुदंड की हड्डियों की सभी गाँठे सब समय साथ ही रोग से आक्रांत नहीं होतीं, कभी-कभी एक साथ ही सब गांठों में रोग का आक्रमण होता है। आम तौर से रीढ के निचले हिस्से से ही रोग का आक्रमण होते देखा गया है। जहाँ पर रोग का बीज अंकुरित होता है, वह स्थान सूज जाता है और कभी-कभी फट कर उससे लोहू भी बहने लगता है। रोगी को चलने-फिरने की शक्ति धीरे-धीरे कम होने लगती है और तब रोग के सारे जटिल उपसर्ग प्रकाश पाते हैं।

हड्डी या हड्डियों की गांठों—घुटने, हाथ के कुल्हे, कलाई की गांठ, बगल की गाँठ आदि-में वायु की विकृति से यक्ष्मा का आक्रमण होता है। वायु का विकार नाना कारणों से पैदा होता है और विकृत वायु मज्जा में प्रवेश कर मज्जा का क्षय करती है, जिसके फल-स्वरूप हड्डी का भी क्षय होना शुरू होता है। इस क्षय से गांठों में धीरे-धीरे शुष्कता आती है। यक्ष्मा का आक्रमण होते ही कहीं की हड्डी थोड़ी सूज उठती है। हड्डी की यह सूजन सदा बनी नहीं रहती। कुछ ही दिनों के बाद सूजन एक बारगी कम हो जाती है और वह स्थान सूखने लगता है। बहुत बार ऐसा भी देखा गया है कि सूजन के घटने के बदले वह हवा में फट जाता है और उससे पानी जैसा एक प्रकार का तरल पदार्थ बहने लगता है। इस तरल पदार्थ के साथ ही कभी-कभी हड्डी की बुकनी भी निकलते देखी गयी है। ज्यों-ज्यों दिन बीतता जाता है, त्यों-त्यों रोगी के शरीर में रक्तहीनता, कमजोरी और शुष्कता आती है और ज्वर तथा खांसी का भी आक्रमण हो जाता है। मज्जा और शुक्रक्षय, ये दोनों अस्थि यक्ष्मा के मूल कारणों में हैं। अस्थि के क्षय से सर्वांग में क्षय शुरू होता है और रोगी बहुत ही कष्ट उठाता है।

हड्डी और गांठ की यक्ष्मा—

मस्तिष्क की यक्ष्मा-

मस्तिष्क की यक्ष्मा का शिकार उन लोगों को होना पड़ता है, जो रात-दिन बेतरह दिमागी कसरत किया करते हैं, किंतु शारीरिक परिश्रम का नाम भी नहीं लेते। रिसर्च स्कालर, लेखक, स्वाध्यायी आदि व्यक्ति सहज ही इस रोग के शिकार हो जाया करते हैं। मानसिक दुश्चिन्ता की प्रबलता भी इस रोग का एक प्रमुख कारण है। बहुत से लोग दिवा-निशि मन में किसी बात की दारुण चिंता करते हैं, किंतु उस गोपन तथ्य को भूल कर भी किसी पर प्रकट नहीं होने देते। ऐसी दशा में इस दुश्चिता का बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक अशांति दिमागपर दुश्चिता का दबाव, शोक वियोग की वेदना, धन या मानहानि, कार्योद्योग में असफलता, इन कारणों से जिस मानसिक अस्वच्छलता की सृष्टि होती है, अस्वच्छलता मस्तिष्क की यक्ष्मा का कारण होती है। यक्ष्मा का यह रूप बड़ा बुरा होता है। और रोगी की अशांति का अंत नहीं रहता। रोगी को शिर में इतनी अधिक गर्मी और जलन मालूम होती है कि वर्फ की टोपी हर समय धरे रहने पर भी शांति नहीं मिलती। ब्लड-प्रेसर का दबाब ऐसो अवस्था में अक्सर बढ़ जाया करता है। स्मरण-शक्ति और क्रियाशीलता धीरे-धीरे विनष्ट हो जाती है। यहाँ तक कि रोगी खाट से उठने-बैठने में भी लाचार हो पड़ता है। ज्वर, खाँसी

हकहका

और शरीर की शुष्कता शुरू होती है। दिमाग में इतनी कमजोरी आ जाती है कि मामूली-सी बात भी सोचना रोगी के लिये मुश्किल हो जाता है, मस्तिष्क पर हल्का दबाव पड़ने से भी उसकी तकलीफ़ बढ़ जाती है, उसका दिमाग खाली-खाली सा रहने लगता है। कभी-कभी दिमाग में चक्कर आता है, गर्मी बिल्कुल बर्दाश्त नहीं होती, खाँसने पर कफ के साथ खून का आना जारी हो जाता है।

मुँह की यक्ष्मा—

मुँह के भीतर भी यक्ष्मा का आक्रमण होते देखा गया है, जिससे एक या दोनों ओर का टाँनसिल सूज जाता है। टॉनसिल सूज जाने की वजह से रोगी की खाँसी बढ़ जाती है और लगातार खाँसते रहने से टॉनसिल में घाव हो जाता है, जिससे खून भी बहता है। इस तरह रोगी का खाना मुहाल हो जाता है, क्योंकि निगलने में कष्ट का इंतहा नहीं रहता। धीरे-धीरे रोग बढ़ने लगता है। उसके दूसरे-दूसरे उपसर्ग भी क्रम से प्रकट होने लगते हैं,। यथा ज्वर का धीरे-धीरे बढ़ते रहना, कमजोरी, रक्तहीनता। रक्तहीनता इस रोग के जटिल उपसर्गों में से है। मुँह की यक्ष्मा में सर्वदा ऐसी चेष्टा होनी चाहिये, जिससे ऐसी नौबत न आये कि रोगी को रक्तशून्यता का शिकार होना पड़ता

पड़े। रक्त के अभाव से कफ की वृद्धि होती है, कफ से फेफड़ा क्षय होता है ओर उसमें घाव हो जाता है। घाव के बढ़ते रहने से बुखार की मात्रा बढ़ती रहती है। इस तरह धीरे-धीरे रोगी का पेट भी रोग से अछूता नहीं रह पाता। फिर तो शूल, उलटी आदि होकर रोगी के कमजोरी को बढ़ाती हैं, जिससे खून भी मुँह से ज्यादा आने लगता है, और रोगी के बचने की कोई उम्मीद नहीं रह जाती।

आंखों की यक्ष्मा—

आँखों का लाल रहना, उनमें लहर होना, पानी चलना, दर्द होना, ताकने की इच्छा न करना, पुतलियों के निकल जाने-का अनुभव होना आदि लक्षण आँखों की यक्ष्मा के हैं। आँखों की यक्ष्मा दो तरह की देखी गयी हैं। पहले प्रकार के प्रारंभिक लक्षण हमने ऊपर बताये हैं। इसमें शरीर का क्षय उतनी शीघ्रता से नहीं होता। यह वायु और कफ के कुपित होने से होती है। तुरंत यदि इसका प्रतिकार न किया जाय, तो धीरे-धीरे ज्वर, खाँसी आदि अन्यान्य लक्षण प्रकट होते हैं। रोगी की दृष्टि-शक्ति लुप्त हो जाती है और सर्वाङ्ग में शोथ उत्पन्न होता है। और दूसरे प्रकार में बड़ी शीघ्रता से रोगी की आँखें निकम्मी हो जाती हैं साथ ही उसकी स्मरण-शक्ति और शारीरिक शक्ति नष्ट हो जाती है और थोड़े ही दिनों में रोगी का शरीर सूख कर काँटा हो जात्ता है।

अन्यान्य अंगों की यक्ष्मा की अपेक्षा गलनाली की यक्ष्मा अधिक पीड़ादायक होती है। उसमें रोगी को असह्य यंत्रणा सहनी पड़ती है। यह कफ और पित्त के विकार से उत्पन्न होने वाली यक्ष्मा है। जिस व्यक्ति के शरीर में कफ और पित्त की प्रधानता होती हैं और शरीर क्षीण होता है, उसे ही गलनाली की यक्ष्मा से आक्रांत होना पड़ता है। कारणवश दूषित पित्त और कफ को वायु अन्न नाली में बद्ध कर देती है। जिससे गले के भीतर बहुत-सी सूजन की सृष्टि होती हैं और कालान्तर में वह सूजन ज्यादा बढ़ जाती है और रोगी को खाँसी का शिकार होना पड़ता है। खाँसी के साथ ही स्वर-भंग उपस्थित होता है। स्वर-भंग का मूल कारण गले में अनेकों मांसां-कुरों का पैदा होना है। ये मांसांकुर उस कफ के गले में जम जाने के कारण होते हैं, जिसे दूषित वायु वहां निक्षेप करती है। मांसांकुरों की वृद्धि से रोगी को कितनी पीड़ा सहनी पड़ती है, यह सोच कर भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। खाना और बोलना तक रोगी के लिये असम्भव हो जाता है। फिर हरदम खाँसी भी होती रहती है, जो कोढ़ पर खाज की तरह रोगी की यन्त्रणा को कई गुनी बढ़ा देती है। इन उपसर्गों के साथ ही ज्वर, रक्त वमन पतली टट्टी आदि की भी शिकायत शुरू हो जाती है और

गलनाली की यक्ष्मा

वे मांसांकुर क्रमशः रोगी के फेफड़ों तक फैल जाते हैं। चूँकि रोगी के कष्ट की मात्रा बढ़ जाती है, वह कुछ खा नहीं सकता, इसलिये उसका शरीर बड़ी शीघ्रता से सूख जाता है।

अन्ननाली की यक्ष्मा-

लक्षण तथा अवस्था में बहुत कुछ समानता होते हुए भी अन्न नाली की यक्ष्मा गलनाली की यक्ष्मा से सर्वथा भिन्न है। इसमें भी रोगी को मारात्मक यन्त्रणा होती है। कै करते रहना इस रोग का एक दुःखद और जटिल उपसर्ग है। हरदम उलटी करने की इच्छा होती है, जी मिचलाता रहता है। एक तो इसमें रोगी कुछ खा नहीं सकता। बड़े कष्ट से यदि उसने कुछ खा भी लिया तो उसका पेट में रहना नामुमकिन हो जाता है। अन्न के पेट में जाते ही रोगी कै कर देता है। खाँसी भी एक क्षण के लिये रोगी का पीछा नहीं छोड़ती। शरीर जर्जर हो जाता है, जीर्णज्वर बना रहता है और देह की कान्ति कतई नष्ट हो जाती है। इस रोग में पहले पेट, फिर फुफ्फुस आक्रान्त होता है।

पेट की यक्ष्मा—

संख्या के हिसाब से पेट की यक्ष्मा का स्थान फेफड़े की यक्ष्मा के बाद ही है। बहुत-से लोग इस रोग से कष्ट पाते हैं। इसका प्रधान कारण भोजन की गड़बड़ी है। जमाना ऐसा आ पड़ा है

कि लोगों के सामने सदैव अन्न की जटिल समस्या रहती है। एंड़ी चोटी का पसीना एक करके भी लोगों को भर पेट भोजन नहीं मिलता। सभ्यता के इस युग में व्यापार की प्रतियोगिता होती रहती है, जिसके कारण दाम खर्चने पर भी विशुद्ध भोजन नहीं मिलता। नये-नये रश्मो-रिवाज, तौर तरीके चले हैं। खान-पान की चीजें ही नहीं, दृष्टिकोण भी बदल गया है। फल स्वरूप पेट की बीमारियां बहुत बढ़ गयी हैं। असमय में भोजन, कृत्रिम भोजन, अति या अल्प भोजन, विरुद्ध भोजन, सुरापान, बुरे स्थान में भोजन आदि कारणों से पेट में जो बुरे रोग फैलते हैं, उन्हीं से पेट की यक्ष्मा भी फैलती है। भोजन के विषय में विस्तृत रूप से हम किसी पिछले अध्याय में बता चुके हैं।

अरुचि, अग्निमांद्य, कोष्ठबद्धता, पेट में रह-रह कर दर्द, जलन, समय-समय पर अधिक मात्रा में पतली टट्टी, उलटी करने की इच्छा, शरीर की शुष्कता और मुँह का छल छलाते रहना, गात्रदाह, खुजली अदि पेट की यक्ष्मा के आरंभिक लक्षण हैं। इसमें पेट के अन्दर छोटी-छोटी बहुत-सी फुंसियाँ निकल आती हैं और पेट में सदा एक तरह की अस्वस्थता बोध होती है। पेट की यक्ष्मा अधि-कांश में औरतों को ही हुआ करती है। यहाँ हम इसका विशेष उल्लेख न कर किसी अगले परिच्छेद में करेंगे।

मूत्राशय की यक्ष्मा–

मूत्राशय की यक्ष्मा से-रोगी को बड़ी तकलीफ होती है। इस में पिशाब ज्यादा या कम होता है। पिशाब करने में रोगी को पीड़ा होती है और वह पिशाब का वेग भी धारण नहीं कर सकता। हर बार पिशाब के साथ धातु का क्षय होता है। बहुत समय मूत्रके साथ मांस की निहायत बारीक टुकड़ियाँ भी निकलते देखी गयी हैं। यह इस व्याधि की पहली अवस्था है। इसमें पेट में भार-सा लगना, सिर में चक्कर आना, हाथ-पाँव में लहर मालूम होना, शरीर का सूखना, मूत्राशय में जलन होना आदि लक्षण प्रकाश पाते हैं। तीसरे पहर रोगी को हल्का बुखार भी आना शुरू होता है, जो समय के साथ-साथ बढ़ता ही जाता है। और कुछ दिन बीत जाने पर रोग के जटिल उपसर्ग आ घेरते हैं। मूत्राशय के पास की कुछ ग्रन्थियां सूज उठती हैं, जिससे रोगी को पिशाब करने में बड़ी यंत्रणा होती है। पिशाब के साथ-साथ खून और पीब-बहते भी देखा गया है। और, जब खून और पीब-बहता है, तो रोगी की यंत्रणा असह्य हो उठती है, ज्वर भी क्रमशः बढ़ता जाता है। ज्वर के साथ अरुचि, अग्निमांद्य अदि यक्ष्मा के सुलभ अन्यान्य उपसर्ग प्रकट होते हैं। जब व्याधि बढ़ जाती है, तो रोगी के सर्वाङ्ग में शोथ या सूजन दिखायी देती है, किसी-किसी का सिर्फ फोता सूजते भी

देखा गया है। मूत्राशय का यक्ष्मा स्त्रियों की बनिस्बत पुरुषों को ज्यादा हुआ करता है, यह एक कठिन रोग है और अक्सर उन्हीं लोगों को होता है जो दिन-रात बैठे-बैठे कठिन मानसिक श्रम करते हैं, किंतु शारीरिक श्रम की आवश्यकता नहीं महसूस करते। अंग-प्रत्यंग की पुष्टि और स्वास्थ्य के लिये आवश्यक व्यायाम की भी जरूरत होती है। सिर्फ दिमागी कसरत स्वास्थ्य के लिये हर तरह से हानिकारक सिद्ध होती है। मद्यपान, अतिरिक्त मैथुन, यकृत की शिकायत, भोजन के अनियम से भी इस यक्ष्मा की उत्पत्ति हुआ करती है।

गुह्यप्रदेश की यक्ष्मा-

मूत्राशय की तरह गुह्य प्रदेश में भी कठिन यक्ष्मा का आक्रमण होता है। वेगधारण और कोष्ठ काठिन्य के कारण इस रोग का सूत्रपात होता है। बवाशीर और भगंदर रोग की भी अन्तिम परिणति यक्ष्मा में होती है। लगातार, रस, रक्त अदि के निकलते रहने से मलनाली में घाव हो जाता है। इस रोग के आक्रमण से यक्ष्मा के अन्य बहुत-से लक्षण तो दिखायी पड़ते ही हैं, पेट और गुह्य प्रदेश में भी भीषण यंत्रणा होती है। रोगी को ज्वर आता है, अन्न सब मल बन जाता है और जीवनी-शक्ति घटती जाती है। गुह्य प्रदेश में दुःसाध्य घाव का होना और पेट तथा मूत्राशय तक उसका फैल जाना रोग की चरम अवस्था है।

ऊपर हमने अंग-प्रत्यंग की जिन यक्ष्माओं का संक्षिप्त विवरण किया है, इसे ही पूर्ण नहीं समझना चाहिये। इसके सिवाय भी और तरह की यक्ष्मा होती है, स्थानाभाव से यहाँ सब का उल्लेख करना न तो उचित है, न अभीष्ट ही। बीमारियों के जो रूप विशेष संख्या में देखने में आते हैं, जिज्ञासु पाठकों को हमने उन्हीं से परिचित कराने की चेष्टा की है।

* *

*

५

स्त्रियों में यक्ष्मा का प्रसार

हिसाब लगाकर देखा गया है, भारत में प्रतिवर्ष यक्ष्मा के जितने रोगी होते हैं, उनमें स्त्रियों की संख्या ही ज्यादा है और वह भी सोलह से तीस साल उम्र तक की स्त्रियाँ ही ज्यादा इस रोग की शिकार हुआ करती हैं। लेकिन इसमें ताज्जुब का कोई कारण नहीं। हमारे समाज में अर्थात् भारतीय समाज में नारी का जो स्थान है और उस स्थान में होते हुए जो आदर-सत्कार उसे प्राप्त है, उसे देखते हुए इस रोग की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या पर हमें विस्मय बिल्कुल ही नहीं होता।

भारतीय नारी-समाज पतन की पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है। यहाँ पतन से हमारा उद्देश्य उसके नैतिक पतन से नहीं, बल्कि शारीरिक अवस्था के पतन से है। आज से नहीं, बहुत पुराने समय से हमारे यहाँ औरतों की दुर्गति होती रही है। हमने शुरू से ही उसे घर की रानी बनाने का प्रलोभन देकर देवी से उसे पशु-सा बना रक्खा

है। हम पुरुषों की वासनाओं की पूर्ति के लिये एक मशीन के सिवाय औरतें रह क्या गयी हैं ? मनु महाराज ने लिखा था—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

किन्तु उन्हीं मनु महाराज ने औरतों को पंगु बनाने के कठोर नियम-शृङ्खला की सृष्टि में अपनी शक्ति भर तो त्रुटि नहीं की। केवल मनु ही क्यों, लगभग सभी शास्त्र-कारों ने, सभी समाज के ठेकेदारों ने औरतों के अधिकार के सूत्र को इतना संकीर्ण बना छोड़ा है कि उनके लिये अक-बर के इस शेर को दुहराने की जरूरत पड़ती है।

क्या गनीमत नहीं यह आजादी
कि साँस लेते हैं, बास करते हैं।

हमें स्वप्न में भी इस बात का खयाल नहीं होता कि स्त्रियाँ भी हाड़मांस की बनी होती हैं, उनके भी मन है और मन में है हमारी जैसी ही पर मारने वाली मुरादों की भीड़। हम पुरुषों का एकमात्र इरादा है कि उनकी सारी आशा-आकांक्षाओं को कुचल कर उन्हें अपने हाथ की कठपुतली बनाये रहें। इस तरह नारी-जीवन कष्टमय ही जीवन है। गुप्तजी के शब्दों में।

अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी;
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

स्त्रियों के लिये भारतीय समाज में सामाजिक बंधन की जो जटिलतायें मौजूद की गयीं हैं, उनसे उनके स्वास्थ्य पर कितना बुरा असर पड़ता है, यह बताना फिजूल-सा है। जैसे पर्दा-प्रथा की बात ली जाय। स्त्रियों में यक्ष्मा फैलने का यह एक प्रधान कारण है, और केवल यक्ष्मा ही क्यों इससे एक से एक भयंकर बीमारी स्त्रियों को परेशान बनाती और असमय में ही उन्हें काल-कवलित करती हैं। पर्दे में रहनेवाली औरतों को न तो कभी खुली हवा प्राप्त होती है, न धूप नसीब होती है। स्वास्थ्य के लिये ये दोनों वस्तुएँ अत्यन्त जरूरी हैं। किसी पौधे के गमले को यदि धूप से हटा कर किसी कमरे में बंद कर दिया जाय, तो उसका स्वाभाविक हरा रंग पीला पड़ जाता है। रात-दिन घर-गिरस्ती की चक्की में बेतरह पिसने वाली स्त्रियों का भी हाल पर्दे में रहने से ऐसा ही होता है। मुसलमानों में तो इस प्रथा की और भी ज्यादा कड़ाई है। इसलिये मुस्लिम-महिलाओं में इस रोग का प्रादुर्भाव अपेक्षाकृत ज्यादा होता है। जिन गरीबों को दिन भर कड़ी मेहनत के बाद भी भर पेट रूखी रोटियाँ मुश्किल से मिलती हैं, उनके यहाँ की स्त्रियाँ यक्ष्मा से सहज और अधिकांश अक्रांत होती हैं। उन्हें एक सर्द और सँकरे कमरे में, जिसमें भूल कर भी कभी

पर्दा प्रथा—

धूप नहीं आती, न हवा का प्रवेश होता है, अपने सारे परिवार के साथ रहना पड़ता है। फलतः उनकी तंदुरुस्ती बिगड़ जाती है और लगातार उसी रूप में रहने की वजह से यक्ष्मा धर दबाती है। कहाँ तक गिनायी जायँ, पर्दे से होने वाली हानियाँ अनेक हैं।

इतिहास गवाह है कि भारत की रमणियों के लिये वह भी एक गौरव का युग था, जब वे मंत्र की ऋचाएँ रचती थीं। अब तो एक लकीर की फकीरी लोगों को सूझी है कि स्त्रियों को शिक्षा देना ही पाप समझते हैं। शास्त्र की सम्मति से भी स्त्रियों का शिक्षित होना पाप है। फलतः घर के अन्दर वे कूप मंडूक की तरह अज्ञान के अंधकार में सड़ती रहती हैं। शिक्षा का उद्देश्य नौकरी द्वारा पैसे पैदा करना ही नहीं है। शिक्षा का मूल उद्देश्य आत्मोन्नति है। अपने जीवन की सुख-सुविधाओं के लिये भी शिक्षा आवश्यक है। स्त्रियों के लिये तो शिक्षा अनिवार्य ही होनी चाहिये। जिस पर सारे घर की जिम्मेदारी, संतान के प्रतिपालन का भार हो, वह अज्ञानी हो तो भविष्य में किस तरह की उम्मीद की जा सकती। प्रत्येक स्त्री को रोग, उसके प्रारंभिक लक्षण, और प्रारंभिक उपाय तथा देख-भाल का ज्ञान होना चाहिये। स्वास्थ्य

शिक्षा की कमी—

नियमों

मनुष्य की सबसे बड़ी संपत्ति है। स्वस्थ्य को बनाये रखने के आवश्यक नियमों की जानकारी स्त्रियों को होनी चाहिये। हमारे यहाँ की स्त्रियाँ अशिक्षित रक्खी जाती हैं और इन मामूली बातों से अनभिज्ञ रहने के कारण बड़ी से बड़ी वला की शिकार हो जाती हैं।

दुश्चिंता—

जिस आदमी को शुरु से यह अधिकार नहीं दिया गया कि वह कार्यतः कुछ करे, उसके मन पर चिंता के जबर्दस्त दबाव का होना स्वभाविक है। हमारे यहाँ स्त्रियाँ सचमुच ही कुछ भी करने के अधिकार से वंचित हैं। उन्हें हमने बहुत ही परमुखापेक्षी बना दिया है। किसी बड़ी नाव के पीछे की डोंगी की तरह वे अपने पति के पीछे-पीछे चलती हैं। उनकी कोई आकांक्षा, कोई आशा कभी पूरी नहीं होती। इतने पर भी पति, सास, ननद, जिठानी आदि के अत्याचार तो उन पर होते ही रहते हैं। स्त्रियों की बनावट भी ईश्वर ने कुछ ऐसी की है कि उनका दिल कोमल होता है, वे भाव प्रवण होती हैं। फलस्वरूप, दुःख, शोक, चिंता आदि का प्रभाव हम पुरुषों की अपेक्षा उन पर ज्यादा पड़ता है। और वे इतनी निरीह बना दी गयी हैं कि, खुल कर अपना दुखड़ा किसी के आगे रो भी तो नहीं पातीं। युग-युग तक पीड़ा उनके जी में घुलती जाती

रहती है, वे पशु की तरह बेजबान रहती हैं। यह स्थिति बड़ी करुणाजनक है और मानसिक दुश्चिंताओं से यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी स्त्रियों को अनावश्यक लज्जा का भी बुरा परिणाम भुगतना पड़ता है।

मानव- जीवन में मनोरञ्जन का एक खास स्थान है।

अति परिश्रम—

जिस तरह सौ दवाओं का काम एक संयम करता है, उसी तरह सौ शिकायतों को चित्तकी प्रसन्नता आसानी से दूर कर सकती है। तन्दुरुस्ती के लिये आवश्यक व्यायाम की सब को जरूरत है, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री। किन्तु स्त्रियों के लिये इसकी भी कोई व्यवस्था नहीं। गृहस्थी के कामों का बोझ सदा उनपर लदा रहता है, उसमें न कोई नवीनता होती है, न विचित्रता। रोज एक-सा काम-काज, एकसा ही रहन-सहन। सुबह जगते ही चौका-बर्तन, झारू-बहारू रसोई-पानी और शाम को भी फिर यही। आग और धुएं के पास बराबर बैठना कितना हानिकारक है, यह हरआदमी आसानी से समझ सकता है। इसी के साथ-साथ गृहस्थी के अन्य बहुतेरे झंझट होते हैं। जिन्हें बेचारी स्त्रियाँ झेला करती हैं, परिश्रम के इस बोझ से वे दब जाती हैं, उन्हें कमजोरी सताती है, अरुचि और क्षुधा हीनता से उनका स्वास्थ्य टूटने लगता है। इन्हीं

असुविधाओं से वे यक्ष्मा की भी शिकार होजाया करती हैं।

भोजन का असंयम भी स्त्रियों में आम तौर से पाया जाता है। वे न तो समय का खयाल रखती हैं, न खाद्य-वस्तुओं का। इसमें भी उनकी अशिक्षा का बहुत अधिक हाथ रहता है, किंतु इसमें उनकी विवशता भी कुछ कम नहीं रहती। स्त्रियों का कर्तव्य ही है कि घर के प्रत्येक व्यक्ति को खिला-पिला कर तब भोजन करें और घर के किसी भी व्यक्ति को नियम की पाबंदी नहीं रहती। वे जब जी में आता है, खाते हैं। फलतः स्त्रियों के भोजन का समय ठीक रही नहीं सकता। वे घर की लक्ष्मी होती हैं, इसलिये बची-खुची चीजें भी बर्बाद नहीं होने देतीं। उन्हें ठंढी, सड़ी-गली, बासी चीज़ें खा लेने की भी आदत-सी हो जाती है। वर्तमान समय में रोटी की समस्या बड़ी टेढ़ी है। कुछ ही भाग्यवान लोग हैं, जिन्हें रुचिका भोजन भरपेट मिल जाता है। भारत के अधिकांश लोग गरीब हैं, उन्हें मुश्किल से भी दोनों समय रोटियाँ नहीं मिलतीं, फिर पुष्टिकर खाद्य- पदार्थों की कमी हो, तो अत्युक्ति क्या ? इस तरह औरतों को पुष्टिकर खाद्य जितना चाहिये, नहीं मिलता। इससे उनका स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रहता और रोग शीघ्रता से धर दबाते हैं।

भोजन का असंयम—

सहवास का असंयम-

आहार, निद्रा और मैथुन, मानव-जीवन की ये तीन जरूरी चीजें हैं। आहार-निद्रा की बात तो किसी हद तक लोगों के ध्यान में रहती है, किन्तु मैथुन के नियम-संयम की सावधानी बहुत कम लोगों में रहती है। जीवन की स्थूल आवश्यकताओं की तरह मैथुन भी अत्यावश्यक है। इसका न होना या बहुत अधिक होना, दोनों ही दशाएँ खतरे की हैं। और-और देशों में इसकी यथोचित शिक्षा की व्यवस्था है, जब कि हमारे यहाँ इस जरूरी विषय का ज्ञान बहुत कम लोगों को है। बहुत कम उम्र में ही लड़कियों की शादी कर दी जाती है और वे उसी अपरिपक्वावस्था से ही पुरुषों की काम-वासना की तृप्ति का साधन बना दी जाती है, जिससे उनके स्वास्थ्य की मिट्टी पलीद हो जाती है। बहुत अधिक उम्र तक लड़कियों का व्याह न करना भी कुछ अच्छा नियम नहीं। एक खास उम्र में स्वाभाविक तौर से संभोग की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। जब उसकी पूर्ति का कोई साधन नहीं मिलता, तो वह भूख ही उनके लिये नाना रोगों का कारण बन जाती है। स्वाभाविक इच्छा का बलपूर्वक दमन और उसे गुप्त रखने की प्रवृत्ति बड़ी बुरी होती है। इससे जो अनिष्ट न हो, वही थोड़ा है।

स्त्री रोग— चाहे जिन कारणों से हो, स्त्री रोगों की उत्पत्ति वायु के विकार से ही होती है। यक्ष्मा भी वायु के विकार से ही पैदा होती है। इस लिये, यह बताने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि अधिक दिनों तक स्त्री रोगों से कष्ट पाने वाली स्त्रियों में यक्ष्मा सहज ही विस्तार लाभ कर सकती है। स्त्री रोगों के कारण आये दिन नारी-समाज का बड़ा ही अनिष्ट हो रहा है। गाँवों में चूँकि सभ्यता की यह रोशनी अन्त-तक विशेष रूप से प्रवेश नहीं कर सकी है, इसलिये वहाँ अभी नियम-पालन की पुरानी परिपाटी वर्तमान है। इसके चलते उनमें स्त्री-रोग का उतना अधिक और दारुण आक्रमण होते नहीं देखा जाता। शहरों में तो नियम-पालन को स्त्रियाँ नाना कारणों से वैसा महत्व नहीं देतीं, जिसका परिणाम बहुत ही कष्ट कारक होता है।

ऋतु कालीन असंयम- जैसे, ऋतु की गड़बड़ी। आजकल अधिक से अधिक स्त्रियों की यह आम शिकायत है। ऋतु काल में शास्त्रोक्त नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है। लेकिन अधिकांश स्त्रियाँ उन नियमों का पालन नहीं करतीं, इसलिये उन्हें बाधक, रक्त प्रदर, श्वेत प्रदर आदि अत्यन्त कष्टकर रोगों से आक्रान्त होना पड़ता है। इन रोगों से अधिक दिनों

तक कष्ट पाने पर उनका शरीर जर्जर हो जाता है और उन्हें यक्ष्मा हो जाती है। स्त्रियों को पेट की यक्ष्मा ही अधिक हुआ करती है।

कम उम्र में प्रसव—

बहुत थोड़ी उम्र में गर्भ धारण करने या बार-बार सन्तान प्रसव करने से भी स्त्रियों को यक्ष्मा होती है। प्रसव करने पर स्त्रियों के शरीर में विशेष दम नहीं रह जाता। उनके शरीर का रस और रक्त बहुत अधिक नष्ट हो जाता है, जिससे शरीर रक्तहीन और दुर्बल हो जाता है। ऐसी दशा में इसकी क्षतिपूर्ति के लिये कुछ आवश्यक नियमों—जैसे विश्राम, लघुपाक भोजन, स्वामी-सहवास, दिवा निद्रा और रात्रि जागरण वर्जन, आदि का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। जो स्त्रियाँ इन नियमों की अवहेलना करती हैं, उन्हें असामान्य कष्ट झेलना पड़ता है। क्योंकि विधि-निषेध न मानने पर उनके गर्भाशय का दोष नहीं दूर होता और प्रसूति को फिर से ऋतु शुरू होती है तथा वह तुरन्त फिर गर्भ धारण भी करती है। इस तरह रोगिणी की दुर्बलता दूर होने के बजाय क्रमशः बढ़ती ही जाती है। उसके शरीर के धातुओं का क्षय होना शुरू होता है, जिसकी अन्तिम परिणति यक्ष्मा में होती है।

स्त्रियों के लिये प्रसूतिका एक प्रबल व्याधि है। गर्भावस्था में तरह-तरह का अनियम, प्रसव के बाद परिचर्या की कमी, उपयुक्त समय तक विश्राम न करना, रजस्वला होने के पूर्व ही फिर से पति-सहवास आदि कारणों से वायु कुपित हो जाती है और शरीर में शोथ, फिर यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। आज कल स्त्रियों में इस रोग का प्राबल्य है और इसी से उनमें यक्ष्मा भी अधिक होने लगी है। प्रसव के बाद अत्यधिक मैथुन, शारीरिक परिश्रम का अभाव या अधिकता, अस्वास्थ्यकर गृह में वास, पौष्टिक भोजन की कमी, बार-बार गर्भ धारण आदि कारणों से स्त्रियों के शरीर का जलीय अंश एकबारगी कम हो जाता है, साथ ही उनकी जीवनी शक्ति का भी क्षय होता है। फलतः ज्वर, अग्निमांद्य, सर्दी, खाँसी आदि उपसर्ग उपस्थित होते हैं।

प्रसूतिका से यक्ष्मा—

प्रसूतिका रोग के दो प्रकार हैं। हाथ-पाँव और आँख में जलन, सर्वाङ्ग का सूखना, खाँसी, तीसरे पहर बुखार, कमजोरी, सिर भारी रहना, देह-हाथ में दर्द, मासिक स्राव में व्यतिक्रम आदि पहले प्रकार के लक्षण हैं। इसमें रस और रक्त के क्षय होने से शरीर धीरे-धीरे सूखता रहता है। नियमित रूप से भोजन स्नान करने पर भी शरीर की शुष्कता दूर नहीं होती। लेकिन, इस प्रकार

नवे

की प्रसूतिका में पेट की किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती। दूसरे प्रकार की प्रसूतिका में पेट की गड़बड़ी ही प्रधान उपसर्ग होती है। पेट में वायु होना, पेट भारी होना, पेट बोलना, पतली टट्टी, अरुचि, खाँसी, ज्वर, शरीर की शुष्कता आदि इसके लक्षण हैं। पहले प्रकार की प्रसूतिका से फेफड़े और दूसरे प्रकार की प्रसूतिका से पेट की यक्ष्मा होती है। पेट की यक्ष्मा से रोगिणी की तकलीफ ज्यादा बढ़ जाती है। पहले उसके सर्वाङ्ग में शोथ उत्पन्न होता है फिर खाँसी, बुखार आदि अन्य उपसर्ग दिखायी देते हैं।

* *

*

६

चिकित्सा

चिकित्सा-कार्य एक महत्व पूर्ण उत्तरदायित्व का कार्य है। इस पर जीवन-मरण का सवाल रहता है। यों तो हर बात में मनुष्यों को अपनी सीमित शक्ति के कारण विवशता रहती है और जहां उसकी बुद्धि या कल्पना नहीं पहुंच सकती, जहाँ उसकी सतत साधना, उद्योग और उत्साह से भी सफलता कोसों दूर हट जाती है, वहाँ उसे अपने से बड़ी एक दूसरी शक्ति के सामने, जिसे हम भाग्य या भगवान कहते हैं, झुक जाना पड़ता है। लेकिन फिर भी मानव का उत्साह अदम्य है। युग-युग से उसकी अनुसंधान-प्रवृत्ति ने हजारों ऐसे रहस्यों पर आलोकपात किया है, जो अज्ञान के तिमिरमय गुहा-मंदिर में हजारों साल से सड़ते रहे थे और प्रकाश्य-जगत की वहां तक पहुंच नहीं थी। मानव उद्योगी है। जहाँ-जहाँ उसके दैनंदिन जीवन में बाधाओं की दीवार खड़ी हुई, वहाँ-वहाँ इसने ज्ञान के हथियार लिये और उसे गिरा दिया। इस तरह
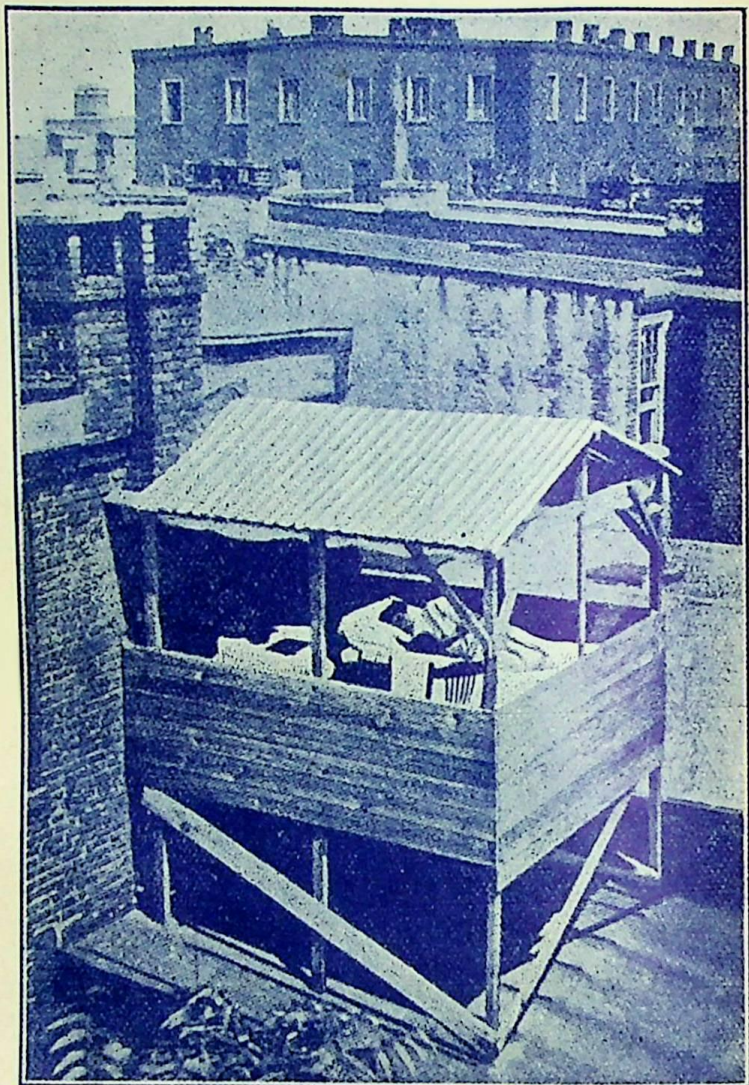
यक्ष्मा रोगी के रहने का स्थान ऐसा होना चाहिये
जहां आदमी कम हों।

इसने जीने की अपनी सुख-सुविधाओं के लिये प्रभूत परि-श्रम किया है।

चिकित्सा-प्रणालियाँ भी मानव की उसी चेष्टा का परिणाम है। पद-पद पर मनुष्यों को नाना रोगों से आक्रांत होना पड़ता है, अगर उनके प्रतिकार का उपाय नहीं किया जाता, तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि इस दुनियां की कौन-सी दशा होती। जगन्नियंता ने दुनियां की सिर्फ सृष्टि ही नहीं की, मनुष्यों के सुख-विधान की सारी सामग्रियाँ भी बनायीं—भूख दी, तो अन्न उप-जाये, आँखें दी तो शोभा सिरजी; इसी तरह रोगों का दल भेजा तो इनके अतिविधान के लिये औषधियाँ उप-जायीं। उन औषधियों के उपयोग के लिये मानव को आवश्यक योग्यता भी प्रदान की। और, सचमुच ही आज मानव इस दिशा में बहुत दूर तक अग्रसर हो चुका है।

आधुनिक युग में सभी दिशाओं में मानव-समाज की आशातीत उन्नति हुई है। जब तक छापे की कलों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक ज्ञानार्जन की अशेष कठिनाइयां थीं। जबानी ज्ञान और शिक्षा दी जाती थी, जिससे बहुत समय बहुत-सी महत्पूर्ण बातें किसी अक्षय-ज्ञान भंडार की संपत्ति न होकर खो भी जाती थीं। पुस्तक-प्रकाशन की सुबिधा से अब वह शिकायत न रही।

अब आज की बात युगों तक बेखटके कायम रह सकती हैं। चिकित्सा-शास्त्रों के लिये भी अब यही सुविधा हो गयी है। अब इसके प्रसार की कठिनाइयां भी दूर हो चुकी हैं। किंतु पुस्तक गत ज्ञान ही चिकित्सा के लिये चरम नहीं कहा जा सकता। इसमें चिकित्सक की उपस्थित बुद्धि और अनुभव से अधिक लाभ हो सकता है। केवल शास्त्रगत निदानों की जानकारी उतनी काम की नहीं हो सकती। चिकित्सक वही निपुण होता है, जो अवस्था विशेष की आवश्यकता समझ सकता है और अपनी उपस्थित बुद्धि से उसे दूर करता है। इसके लिये ज्यादा से ज्यादा दिनों का अनुभव जरूरी है।

आयुर्वेद में यक्ष्मा की चिकित्सा के लिये लगभग पाँच हजार औषधियों का उल्लेख किया गया है। जिन्हें पढ़कर चुनने और उनका यथोचित उपयोग करने में क्या कठिनाई उपस्थित होती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अक्सर लोगों को ठीक-ठीक औषधि निर्वाचन में दुबिधा होती है और भ्रम-सा हो जाता है। यह दुबिधा सिर्फ साधारण चिकित्सकों को ही नहीं, कुशल और विज्ञ चिकित्सकों को भी होती है। फलतः यहां सिर्फ आयुर्वेदोक्त औषधियों का ही नहीं, अधिकतर हम उन औषधियों का उल्लेख करेंगे, जिनका अधिकतर उपयोग किया गया है, और उपयोग से रोगी को अशेष लाभ हुए हैं।

शास्त्रोक्त औषधियों का उल्लेख करके ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाने के सिवाय विशेष लाभ की संभावना नहीं।

सबसे पहले सूचना की बात ली जाय। यक्ष्मा रोगियों का यह दुर्भाग्य है कि सूचना के समय रोग की पहचान ही नहीं हो पाती। क्योंकि साधारणतया रोग के सूत्रपात के समय लक्षण ऐसे होते हैं, जिन से यक्ष्मा जैसी कठिन व्याधि की आशंका लोगों के मन में पैदा नहीं होती। कोई-कोई अगर ज्यादा सतर्कता से भी काम लेते हैं, तो भी कोई फल नहीं होता। क्योंकि प्रारंभिक काल में लोग एलोपैथिक चिकित्सा की शरण लिया करते हैं। छाती और थूक की वैज्ञानिक परीक्षा की जाती है। लेकिन रोग की सूचना के समय थूक या छाती में ऐसे किसी लक्षण का पता नहीं चलता कि यक्ष्मा की ठीक-ठीक पहचान हो। इस तरह और-और रोगों की चिकित्सा में रोग बढ़ जाता है और धीरे-धीरे ला-इलाज हो उठता है। इसलिये विज्ञ चिकित्सकों को रोग की सूचना में ही अधिक सावधानता से काम लेना चाहिये। नाड़ी के पारखियों के लिये, जो इस विषय के अनुभवी होते हैं, रोग को ठीक-ठीक पहचान कर लेना कठिन नहीं होता। भारतीय नाड़ी-विज्ञान इतना वैज्ञानिक और प्रामाणिक है कि ध्यान देने वालों से चूक हो ही नहीं सकती, वशर्ते कि नाड़ी ज्ञान का वह अनुभवी भी हो। जो भी हो, इस

विषय पर हम आगे विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे। यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि रोग के सूत्रपात में जो लक्षण प्रकट हों, उन्हें भली तरह देखे फिर चिकित्सा की व्यवस्था करे।

नीचे हम कुछ ऐसे लक्षणों का उल्लेख करते हैं, जो यक्ष्मा की सूचना में अनिवार्य रूप से दिखायी देते हैं। जैसे, धीरे-धीरे शरीर का सूखते जाना, बीच-बीच में बुखार, काम करने को जी न चाहना, कोष्ठबद्धता भूख न लगना, बदहजमी, छाती, पीठ और पँजरे में दर्द अनुभव करना, दुर्बलता, रक्तहीनता, सुबह थोड़ी-थोड़ी खाँसी होना, गाँठों की सूजन, शरीर के वजन की लगातार कमी, थूक के साथ खून के छींटे दिखायी देना, सुबह स्वाभाविक ताप से भी ताप का कम हो जाना आदि।

यह कोई जरूरी नहीं कि ये सारे ही लक्षण एक साथ प्रकट हों। एक या एकाधिक लक्षणों को देख कर रोग का अनुमान करना चाहिये। यदि रोगी का शरीर अकारण ही सूखता जाता हो और उसके साथ उपरोक्त उपसर्गों में से एक-दो मौजूद हों तो निम्नोक्त योग में से किसी एक का प्रातः काल नियमित रूप से सेवन करना चाहिये :—

अभ्रयोग—पारा १ तोला, गंधक दो तोला और अबरख का भस्म ३ तोला, तीनों को घिवकुमार के रस

छिगाने

में पीस ले और रेंड़ी के पत्ते में लपेट कर धान के ढेर में तीन दिनों तक गाड़ कर रख दे। इसके बाद उसे निकाल कर बकरी के दूध में पीस कर दो-दो रत्तियों की गोलियाँ बनावे और अवस्थानुसार अश्वगंधा चूर्ण, घी और शहद, वंशलोचन चूर्ण या आँवले के रस के साथ सेवन करे।

आदित्य रस—१ हिस्सा पारा भस्म, १ हिस्सा मुक्ताभस्म, १ हिस्सा सोना भस्म और १ हिस्सा ताँबा भस्म घिवकुमार के रस में पीस कर दो-दो रत्तियों की गोलियाँ बना कर १ तोला अदरख का रस, शहद और चीनी के साथ पीस कर सेवन करना चाहिये।

शिलाजीत—लौह शिलाजीत १ तोला, बंग भस्म १ तोला, स्वर्ण भस्म १ तोला, कज्जली १ तोला, इन सब को पान, सेंवर की जड़, आँवला, भूकुसंडी, शतावर और कच्ची हलदी के रस में पीस कर चार-चार रत्तियों की गोलियाँ बना कर घी और शहद के साथ सेवन करना चाहिये।

च्यवनप्राश—अगर रोगी कमजोरी बोध करता हो, थोड़े ही श्रम से हाँफ उठता हो, दम फूलता हो, हाथ-पाँव और आँखों में जलन होती हो, तो थोड़े शहद के

साथ आध तोला च्यवनप्राश उसे संध्या-सबेरे सेवन करना चाहिये।

द्राक्षारिष्ट—भी अवस्था विशेष में बड़ा लाभदायक सिद्ध होता है।

अश्वगंधा घृत—अगर रोगी का शरीर द्रुतगति से क्षय प्राप्त होता हो, तो प्रति दिन तीसरे पहर थोड़े-से गर्म दूध के साथ आध तोला सेवन कराना बड़ा उपादेय है। लेकिन एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि रोगी की पाचन-शक्ति बिगड़ी हुई न हो। स्नायुओं की दुर्बलता के लिये तो यह बहुत उपकारी है।

फलकल्याण घृत—जिन स्त्रियों को ऋतुदोष, संतानजनन-जनित दुर्बलता आदि के कारण यक्ष्मा से आक्रांत होना पड़ता है, उनके लिये यह बड़ा उपकारी है।

इनके सिवाय मध्यम नारायण तेल, दशमूल तेल और अश्वगंधा तेल अवस्था विशेष में मालिस करने से बड़ा उपकार होता है।

भस्मी कृत सुवर्ण—पारा और गंधक द्वारा भस्म किया हुआ स्वर्ण, घी और शहद, या दूध की मलाई के साथ प्रति दिन प्रातःकाल २ रत्ती सेवन कराने से सब प्रकार का क्षय दूर होता है और कांति बढ़ती है।

वसंतकुसुमाकर रस—बहुमूत्र से होने वाली यक्ष्मा के लिये विशेष लाभदायक है।

मृतसंजीवनी—अतिसार प्रसूतिका और ग्रहणी जनित धातु दुर्बलता से होने वाले क्षय का यह नाश करता है। यह अव्यर्थ महौषध है, लेकिन कोष्ठबद्धता की हालत में इसका सेवन हानिकारक है।

वातचिंतामणि रस—वातजनित क्षय में यह विशेष उपकार करता है।

श्री मदनानंद मोदक—अजीर्ण और अम्लपित्त जनित धातु दुर्बलता से अगर शरीर का क्षय होता हो, तो लगभग आध तोला यह मोदक शहद के साथ खूब मिला कर सेवन कराना चाहिये। कोष्ठबद्धता में इसका सेवन अनिष्टकर है।

पथ्यापथ्य—रोगमुक्ति के लिये पथ्यापथ्य का विचार एकांत प्रयोजनीय है। यदि सच पूछा जाय, तो दवाओं से भी नियम-संयम अधिक गुणकारक होता है। जिस कारण से रोग हो, उसका प्रतिकार करना ही रोग-मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसलिये यक्ष्मा के जो कारण बताये जा चुके हैं, उनके प्रतिकार की चेष्टा ही कर्तव्य है। यहाँ हम संक्षेप में पथ्यापथ्य पर विचार करेंगे।

विश्राम करना क्षयरोग की प्रधान चिकित्सा है। जब कारण विशेष से यह विदित हो जाय कि यक्ष्मा का आक्रमण हो चुका या होने वाला है, तो रोगी के लिये पूर्ण विश्राम की व्यवस्था अनिवार्य है। विश्राम से मन और देह की भ्रांति दूर होती है। वायु का विकार शांत होता है और अच्छी नींद आती है। निद्रा हर हालत में शांतिदायिनी होती है और उससे प्रत्येक कष्ट लाघव होता है। विश्राम से क्षय बहुत शीघ्र दूर होता है।

यक्ष्मा की आशंका होने पर भोजन के नियम का ध्यान अत्यावश्यक है। गुरुपाक चीजें खाना, अनपच पर भोजन करना, असमय में भोजन करना, परिश्रम करना, रात्रि जागरण, स्त्री प्रसंग या हस्तमैथुन करना, अधिक बोलना, हिंसा, क्रोध या चिंता करना, औकात के बाहर काम करना, धनोपार्जन के लिये व्यग्रता बोध करना आदि सर्वथा अनुचित है। इन बातों से हर हालत में परहेज करना आवश्यक है। इसके बदले ऐसे उपायों का अवलंबन करना चाहिये, जिन से रोग का उपशम हो।

यक्ष्मा के रोगी के लिये खुली हवा और खुली धूप की सख्त जरूरत है। रोगी को ऐसे घर में रहना चाहिये, जो साफ-सुथरा हो। जहां अनावश्यक चीजों का ढेर घर की गंदगी को न बढ़ाता हो। घर का हवादार होना

जरूरी है। उसकी खिड़कियाँ बड़ी होनी चाहिये, जिनसे धूप और हवा का सदा प्रवेश होता रहे। धूप से रोग के कीटाणुओं का नाश होता है और शुद्ध हवा तो जीवन ही है। रोगी के कपड़े-लत्ते साफ-सुथरे हों, बिछावन भी गंदे न हों। प्रति दिन कपड़ों और बिछावन को धूप में देने की व्यवस्था होनी चाहिये। आहार-बिहार में भी ऐसी ही सतर्कता की जरूरत है। रोगी की भोजन-सामग्री सादी और लघुपाक हो, किंतु उन सामग्रियों में शरीर के पोषकत्तत्व मौजूद हों, जिनसे शरीर का क्षय दूर, पुष्टि-साधन और शक्ति की वृद्धि हो। खाने की चीजें बाजार की हर्गिज न हों, क्योंकि वे कृत्रिम हुआ करती हैं और बहुत-सी हानिकारक वस्तुएँ उनमें मिलायी जाती हैं। चटपटा, तीता, कड़वा भोजन बाद देना चाहिये। हरी-भरी शाक-सब्जियाँ, चक्की का आटा, ढेंकी का चावल रोगी के लिये ज्यादा उपादेय है। फल-मूल, बशर्ते कि वे ताजे हों, फायदेमंद हैं। दूध रोगी को बल देता है, लेकिन ऐसे गौओं का दूध नहीं जो सिर्फ माड़ और भूसे पर जीवन-धारण करती हैं। हरी घास चरनेवाली गाय के दूध में पोषक-तत्व की मात्रा ज्यादा रहती है। शाक में मसाला अधिक न डाला जाय, न तेल-घी के मात्रा ही अधिक हो। बाजार के घी-तेल का व्यवहार लाभ के बदले हानि ही अधिक करता है, क्योंकि वह शुद्ध नहीं

पाया जाता। रोगी के पीने का पानी निर्मल हो। उसका ऐसे वातावरण में रहना अधिक उपयुक्त होता है, जहाँ उसके मस्तिष्क को पूरी शाँति का अनुभव हो, दिमाग में ख़ुराफ़ात न पैदा हो। मन की शांति रोग की अपूर्व दवा है। गृह-कलह, अन्न-चिन्ता, शोक, दुर्भावना आदि से उसे सदा बचते रहना चाहिये।

यक्ष्मा की चिकित्सा के लिये निम्नोक्त चार-पाँच बातों पर पूरा ध्यान रखना जरूरी है। सबसे पहली बात है—क्षय पूर्ति की व्यवस्था। क्षय ही इस रोग का मूल उपसर्ग है और इसी से सारे अनर्थ होते हैं। क्षय पूर्ति के लिये रोगी को जल-वायु बदलवाना बहुत लाभदायक सिद्ध होता है। जिस आबहवा और वातावरण में रोग की उत्पत्ति होती है, वहीं चिकित्सा होने पर लाभ उतनी शीघ्रता से नहीं होता। हवा-पानी बदल जाने का जादू सा असर रोगी की अवस्था में देखा जाता है। इसलिये यदि असंभव न हो, तो रोगी को किसी अन्य स्वास्थ्य-कर स्थान में ले जाने और कुछ दिनों तक वहाँ रखने की व्यवस्था करनी चाहिये। भोजन के विषय में उन्हीं बातों का खयाल रखना आवश्यक है, जो यक्ष्मा के संदेह पर दिये जाने की व्यवस्था में बतायी गयी हैं। शरीर का क्षय इसलिये होता है कि रोगी या तो पुष्टिकर भोजन ग्रहण नहीं कर सकता, या ग्रहण करता भी है, तो उसका

शरीर उसके उपयोगी उपादानों को अपने योग्य नहीं बना सकता। इसलिये ऐसे ही खाद्य द्रव्यों का बन्दोबस्त किया जाय, जो लघुपाक हो, साथ ही पुष्टिकर भी। दुश्चिन्ताओं का भी क्षय में खासा हाथ रहता है, इसलिये उससे रोगी को बचाना चाहिये कि उसका मन भावना के विकार से दूर हो। ब्रह्मचर्य पालन अनिवार्य है। इसके बाद आवश्यक दवाओं का सेवन। इन नियमों के पालन से शीघ्रातिशीघ्र क्षय दूर होता है।

दूसरी बात है क्षुधावृद्धि का उपाय करना। यक्ष्मा में अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण आदि आवश्यक से उपसर्ग हैं। रोगी की क्षुधाहीनता उसकी दुर्बलता और क्षय का प्रधान कारण है। इसके लिये चित्त की प्रसन्नता, विश्राम, दुश्चिन्ता त्याग, रुचिकर लघुपाक भोजन ग्रहण और अग्नि वृद्धि की उपयुक्त दवाओं के नियमित रूप से सेवन की आवश्यकता है।

तीसरी बात है शुक्रक्षय का रोकना। कहना बाहुल्य है कि शुक्र ही मानव शरीर की सबसे मूल्यवान वस्तु है। शुक्र से ही शरीर की शक्ति, कान्ति और क्रियाशीलता बनी रहती है। शरीर के सात धातुओं में शुक्र का स्थान उच्चतम है। शुक्रक्षय से शरीर के अन्य धातुओं का क्रम से क्षय होता है और वह शरीर के क्षय का कारण होता है। इसलिये शुक्रक्षय जिसमें न हो, निरन्तर ऐसी

ही चेष्टा होनी चाहिये। रोगी को ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना चाहिये, मन में किसी तरह का विकार न आने देना चाहिये। इसके लिये काम की चिन्ता, स्त्री प्रसंग, बुरी संगत, बुरी बात-चीत, कामोद्दीपक पुस्तकें, इनसे बचना चाहिये।

चौथी बात रोग की सुचिकित्सा है, जो किसी निपुण चिकित्सक द्वारा ही हो सकती है।

क्षय पूरण—के लिये धात्री घृत, अश्वगन्धा घृत, आदि पुष्टिकर घृत पान कराना चाहिये। इससे अति-शीघ्र क्षय का नाश होता है।

भस्मीकृत सुवर्ण (पारा और गन्धक के संयोग से भस्मी कृत सुवर्ण), लौह भस्म, ताम्र भस्म में से एक या दो का प्रयोग प्रयोजन के अनुसार करना चाहिये और तदुपरान्त गाय का घी तथा दूध पिलाने की व्यवस्था करनी चाहिये।

अगर रोगी को घृत पान से अरुचि हो या वह हजम नहीं हो सकता हो, तो भास्कर चूर्ण, सैंधवादि चूर्ण आदि के प्रयोग से बड़ा लाभ होता है। इससे अग्निवृद्धि और रुचि होती है। धातु भस्म का सेवन करने से दूध और घी पचाने की शक्ति बढ़ती है।

द्राक्षारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट आदि अभीष्ट और सारिवाद्यासव, लौहासव आदि आसवों का दोनों शाम

उपयोग भी लाभदायक सिद्ध होता है। इसके सिवाय विज्ञ चिकित्सक को अवस्था के अनुसार व्यवस्था करनी चाहिये। जो आसव या अरिष्ट रोगी के लिये अधिक उपकारी हों, उन्हीं का व्यवहार कराना चाहिये।

यक्ष्मा में क्षय का प्रधान कारण वायु है। शोषज यक्ष्मा में वायु इतनी प्रबल होती है कि रोगी को अनतिकाल में ही सुखाकर काँटा बना देती है। इसलिये वायु प्रशमन का उपाय अवलंबन करना ही क्षय की सुचिकित्सा है। आयुर्वेद के अनुसार शोष-निवारण और वायु प्रशमन का सबसे अच्छा उपाय घृत-पान है।

घृत पान विधि—शोषज रोग के प्रतिकार के लिये भैंस के घी से गाय का घी अधिक उपकार पहुँचाता है। भैंस का घी अधिकतर पित्तनाशक है और गाय का घी वायु और पित्त, दोनों का नाशक है। घी के साथ मांस-मछली नहीं खानी चाहिये। इससे अजीर्णता एवं तज्जनित अनेक हानिकारक उपसर्ग उपस्थित होते हैं। घी के बने भोजन के बाद तुरत पानी पीना हानिकारक है। घी पीने के बाद कड़वा, तीता और खट्टा भी बाद देना चहिये, क्योंकि इससे भी अजीर्णता बढ़ती है। बकरी का घी सबसे उत्तम है, इससे पेट खराब होने की आशंका नहीं रहती। उद्-रामय से पीड़ित होने वाले क्षयरोगी को बकरी का घी ही

अधिक उपकार करता है। अश्वगंधा, अर्जुन आदि औष-धियों के साथ बकरी का दूध जमाकर उसका घी बना लेने से और भी उपकारी सिद्ध होता है।

रसायन चिकित्सा—कुटीर-प्रावेशिक विधि के अनुसार रसायन प्रयोग जैसी यक्ष्मा की अन्य कोई चिकित्सा नहीं। वातातपिक रसायन प्रयोग से भी कुछ फल अवश्य पाया जाता है।

रस चिकित्सा की औषधें—हिंगुलोत्थ पारा और आमलासार गंधक के संयोग से भस्मी कृत सुवर्ण दो रत्ती प्रतिदिन प्रातः काल घी और शहद के साथ सेवन कराना चाहिये। नियम-पालन आवश्यक है।

क्षय के साथ-साथ फेफड़े का क्षत, ज्वर, खांसी आदि उपसर्ग भी वर्तमान हों तो, घी के साथ एक या दो रत्ती रस भस्म सेवन कराना चाहिये। आधी रत्ती से एक रत्ती तक हीरा भस्म, १ से २ रत्ती तक ताम्र भस्म।

रसघटित मिश्र औषध—नागार्जुन प्रयोग, महा-मृगांक रस, वज्ररस, अग्निरस, प्रबाल योग आदि से शोषज यक्ष्मा के रोगियों को आशातीत लाभ होता है। ज्वर नाश में तो इससे बड़ी सहायता मिलती है।

आयुर्वेदीय कैलसियम--मुक्ता, चुन्नी, मूँगा शुक्ति, अबरख, हीरा शंख, हरताल, शिलाजीत, रसांजन, वंशलोचन, सोना, चाँदी, लोहा, पीतल, काँसा, सीसा, जस्ता आदि धातु भस्म, दूध घी और दही के छींटे देकर खाने से यक्ष्मा शीघ्र दूर होता है। प्रमेहजनित क्षय में बंग भस्म, विलोम क्षयज शोष में मुक्ता, लोहा और अभ्र भस्म, क्षतज शोष में हरताल और रसभस्म, रक्तशून्यताजनित शोष में लोहभस्म और सब प्रकार के शोष में स्वर्णभस्म प्रयोग करना चाहिये। इन कैलसियमों का बहुत बार प्रयोग किया गया है और आशातीत उपकार पाया गया है।

जो शोष व्यायाम के कारण उत्पन्न होता है, उसके लिये रोगी को घी, दूध सेवन कराना चाहिये। राजमृगांक रस, एलादि गुटिका आदि का प्रयोग करना लाभदायक है।

शुक्रक्षय जनित शोष में घृत पान कराना चाहिये। अगर बुखार न रहता हो, तो च्यवनप्राश, अमृतप्राश आदि उपकारी होता है। और यदि बुखार बना रहता हो, तो बृहत् वंगेश्वर, अग्निरस, बृहत वातचिंतामणि प्रभृति से लाभ होता है। बृहत चंदनादि तेल और मध्यम नारायण तेल क्षयनाशक है।

पर्यटन जनित शोष में घी, दूध का प्रयोग उपादेय है। रोगी को आराम मिलना चाहिये। दिन में सोना लाभदायक सिद्ध होता है।

शोकज शोष में रसराज रस, वातचिंतामणि रस, च्यवनप्राश आदि सेवन कराना चाहिये। रोगी को ढाढ़स बँधाना और प्रसन्न करने की चेष्टा करना उचित है।

प्रतिश्याय जनित यक्ष्मा में सेंक, धूमपान आदि की व्यवस्था करनी चाहिये। पहली अवस्था में रोगी को स्नान करने से रोकना चाहिये, जरूरत होने पर सिर्फ सिर धोने से काम चल जायगा। आगे चल कर स्नान की व्यवस्था आवश्यक है। जेठीमद, गुरूच आदि को पानी में उबाल कर उसी पानी से सिर धोना उत्तम है। रोगी को सदा पानी पीने के लिये नहीं देना चाहिये। धनिया और सोंठ के साथ उबाला गया पानी लाभदायक होता है। दशमूल तेल मलने से उर्द्धश्लेष्मा का नाश होता है। स्नान के पहले लगाने के लिये चंदनादि तेल की व्यवस्था हो, तो अच्छा हो।

दोनों शाम भोजन के बाद दशमूलारिष्ट सेवन कराना उत्तम है। सबेरे अदरख और पान के साथ महालक्ष्मी विलास रस का सेवन कराना चाहिये। शाम को

शहद और पान के रस के साथ सर्वाङ्ग सुन्दर रस का सेवन कराना बड़ा उपकारी होता है।

न्यूमोनिया जात यक्ष्मा—न्यूमोनिया में कुछ दिन तक महामृगांक रस सेवन कराने से यक्ष्मा का आक्रमण नहीं हो सकता। न्यूमोनिया से होने वाली यक्ष्मा के रोगी को सवेरे पान के रस और शहद के साथ आदित्य रस या महालक्ष्मी-विलास, तीसरे पहर जेठीमद चूर्ण या वासक पत्ते के रस और शहद के साथ वसंततिलक रस, साँझ को शहद के साथ शृंग्यादि चूर्ण सेवन कराना चाहिये। दोनों वेला भोजन के बाद ठंढे पानी के साथ दशमूलारिष्ट पिलाना उपादेय है।

पुराने घी या चंदनादि तैल की मालिस से बड़ा-लाभ होता है। ताजे फल के रस से रोगी का असीम उपकार होता है। रोगी के रहने का घर खुला और साफ-सुथरा होना चाहिये। सर्द घर, धुआँ और धूल से शक्ति-भर परहेज करना चाहिये। ऋतु-परिवर्तन के समय रोगी की देख-भाल में बहुत अधिक सतर्कता रखनी चाहिये। न्यूमोनिया से जर्जर हो जाने पर फेफड़े की ही यक्ष्मा होती है।

प्लूरिसी जात यक्ष्मा—लंबे अर्से से इस रोग से पीड़ित रहने पर और अनियम होने से यक्ष्मा की उत्पत्ति

होती है। यह रोग कफ और वात के विकार से पैदा होता है। रोग के प्रभाव से रोगी की जीवनी-शक्ति, हृदय की शक्ति तथा शरीर की पुष्टि कम हो जाती है। अधिक दिन उसी अवस्था में रहने से वक्षस्थल में क्षत उत्पन्न होता है।

कफ शुष्क और वायु के अनुलोम होने से उसकी चिकित्साविधि विशेष प्रकार की होनी चाहिये। रोगी के लिये परिश्रम हर हालत में हानिकारक है। इसलिये ऐसा बंदोबस्त करना नितांत प्रयोजनीय है कि रोगी को पूर्ण विश्राम मिले। रोगी का वास-गृह सर्द, गंदा, गर्द से भरा न हो। वहाँ धुएँ की नाम-गंध भी न होनी चाहिये। रोगी को बराबर खुली हवा मिलनी चाहिये। इसमें खुली हवा में टहलने के उपकार अनेक हैं, मगर सर्दी और उत्ताप से बचना भी जरूरी है। स्त्री-संसर्ग तो विषतुल्य परित्याज्य है। रोगी को हर समय गर्म कपड़ा पहने रहना लाभदायक सिद्ध होता है। लघुपाक और पुष्टिकर भोजन की व्यवस्था ही उत्तम है। ताजे फलमूल, बकरी का दूध, गाय का घी रोगी के लिये विशेष उपकारी है। स्नान बंद रखना ही ज्यादा उपयोगी है। न हो सके तो जरा गर्म पानी से स्नान भी कराया जा सकता है। पुराने घी की मालिस और अंकवन के पत्ते की सेंक बड़ा लाभ पहुंचाती है।

इस रोग के प्रभाव से वे धमनियाँ में कफ और वायु के प्रकोप से बंद हो जाती हैं, जो हृदयस्थित रस का संपूर्ण शरीर में संचार करती हैं। फलतः हृदय में रस जमा हो जाता है, जिसका कुछ हिस्सा तो वायु से सूख जाता है, और बाकी कफ और पसीने के रूप में बाहर निकल जाता है। इसलिये रोगी का शरीर दिन-दिन सूखता जाता है। उसकी जीवनी-शक्ति क्रमशः नष्ट हो जाती है। रोगी का गला कफ भर जाने जैसा सर्वदा घड़-घड़ाता रहता है, आँखें रक्तहीन हो पड़ती हैं। इन कारणों से ऐसा उपाय करना आवश्यक हो जाता है कि धमनियाँ साफ रहें। उनसे हृदयस्थित रस का सारे शरीर में संचार हो और वह रक्त रूप में बदल सके। इसी उपाय से रोग से मुक्ति मिल सकती है।

सबेरे अदरख के रस के साथ आदित्य रस या सर्वाङ्ग सुन्दर रस सेवन कराने से आशातीत उपकार होता है। शाम को पीपल के चूर्ण और शहद के साथ भली तरह पीस कर बसंततिलक रस सेवन कराना चाहिय। दोनों बेला भोजन के बाद दवा के बराबर पानी मिला कर द्राक्षारिष्ट और वासकारिष्ट पिलाना लाभदायक है। तीसरे पहर वासक के पत्ते के रस और मधु के साथ मणिकांचन योग या प्रबाल योग का सेवन कराना चाहिये।

❧ ❧

७

यक्ष्मा का नाड़ी-विज्ञान

भारतीय नाड़ी-विज्ञान जैसा यथार्थ और प्रामाणिक नाड़ी-विज्ञान संसार में अन्यत्र नहीं। इसके सहारे सभी अवस्था में सभी रोगों की ठीक-ठीक पहचान हो सकती है। वायु, पित्त और कफ की प्रकृति और स्वरूप विश्लेषणात्मक नाड़ी-विज्ञान भारतीय अनुसन्धान की विशेषता है। इसकी और एक खूबी यह है कि ऐसे रोग, जो एकाएक आक्रमण कर बैठते हैं, पकड़ाई पड़ जाते हैं और पहले से ही उसकी ओर से सतर्कता रक्खी जा सकती है। यह विशेषता भारत के ऋषि-मुनियों के मस्तिष्क की उपज है और सारा संसार इस विशेषता को कोटि-कोटि कलकण्ठ से स्वीकार करता है। ऐसा अपूर्व उपाय रोग-निर्णय के लिये अभी तक संसार के किसी देश में नहीं निकला। लेकिन नाड़ी-विज्ञान की पारदर्शिता सहज ही हासिल होने की नहीं। इसके लिये बहुत दिनों के अनुभव की आवश्यकता है। जो बहुत दिनों तक, बहुत प्रकार के रोगियों की नाड़ी को देखते और

हृदय (२) दाहिना अर्द्ध-भाग ।
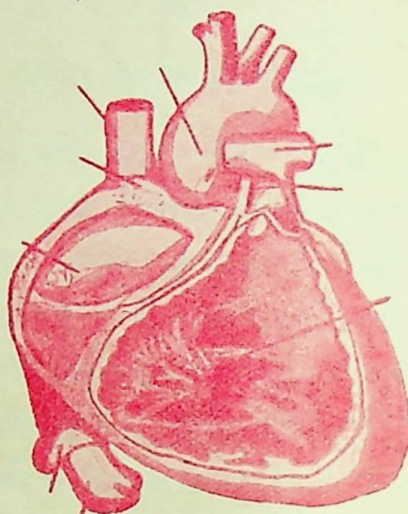
गौर से उनका विश्लेषण करते रहे हैं, उन्हें ही नाड़ियों की प्राकृत गति का ज्ञान रहता है और वे कठिन से कठिन रोग के सम्बन्ध में नाड़ी की चाल से उचित निष्कर्ष पर आसानी से पहुँच सकते हैं।

यक्ष्मा के आक्रमण के विषय में प्रसंगवश हम कई बार कह चुके हैं कि शुरू में इस रोग की पहचान मुश्किल से ही हो सकती है। वास्तव में यह यक्ष्मा रोगियों का दुर्भाग्य है कि उनका रोग तब समझा जा सकता है, जब वह पहली अवस्था को पार कर जाता है। लेकिन आयु-र्वेदीय नाड़ी-ज्ञान में जिनकी पहुँच है, वे सूचना में ही नाड़ी पकड़ कर यह बता सकते हैं कि रोगी पर यक्ष्मा का आक्रमण हो रहा है। इस अध्याय में हम यक्ष्मा, उसकी विभिन्न अवस्थाओं में नाड़ी की गति का संक्षिप्त बिव-रण देंगे। यदि इसके पहले नाड़ी-विज्ञान की चंद साधा-रण बातें कह लें, तो शायद अनुचित या अनुपयुक्त न हो।

वायु, पित्त और कफ के स्वरूप की जिन्हें जानकारी है, उन्हें ही नाड़ी-ज्ञान में सफलता मिल सकती है। एक ही नाड़ी में इन तीनों दोषों की तीन विभिन्न गति का अनुमान किया जा सकता है।

वायु की नाड़ी टेढ़ी-मेढ़ी चलती है—जैसे साँप-बिच्छू आदि।

पित्त की स्वाभाविक गति कौआ, बगुला, तीतर, साँप आदि जैसी चंचल होती है। इसलिये पित्त की नाड़ी की गति द्रुत और चंचल होती है।

राजहंस, मयूर, पारावत की तरह कफ की नाड़ी की गति मृदु और मंथर होती है।

पुरुष के दाहने और स्त्री के बाएँ हाथ की नाड़ी देखनी चाहिये। कलाई (अंगुष्ठ मूल) के पास तर्जनी, मध्यमा और अनामिका, इन तीन अँगुलियों से शांत-संयम भाव से नाड़ी की परीक्षा करनी चाहिये। इस तरह तर्जनी से वायु, मध्यमा से पित्त और अनामिका से कफ की स्वाभाविक गति का बोध होता है। एक बार देख कर, फिर और फिर, इस तरह तीन बार देखना ज्यादा उपयुक्त होता है।

ऋतु भेद के अनुसार नाड़ियों की गति घटती-बढ़ती भी है; जैसे वर्षा और शीतकाल में वायु, शरत और ग्रीष्म में पित्त तथा हेमंत और बसंत में कफ की नाड़ी की गति बढ़ती है।

रात-दिन नाड़ी की गति कभी एक-सी नहीं रह सकती, उसमें भी अंतर होता है। सबेरे नाड़ी की गति स्निग्ध और मृदु, दोपहर को साधारण तेज और उष्ण, सूर्यास्त के पहले जरा अधिक चंचल और रात को उसकी गति फिर मृदु होती है।

वायु और पित्त के विकार में तर्जनी और मध्यमा अंगुली के बीच में नाड़ी की गति का अनुभव होता है। पित्त और कफ की कुपितावस्था में मध्यमा और अनामिका के बीच नाड़ी की गति अनुभूत होती है। और यदि सान्निपातिक अवस्था अर्थात् तीनों ही दोष कुपित हों तो तर्जनी, मध्यमा और अनामिका, इन तीनों ही अँगुलियों से नाड़ी की गति का अनुभव होता है। त्रिदोष में नाड़ी की चाल कभी धीमी और कभी तेज हुआ करती है।

नाड़ी देख कर ठीक-ठीक अवस्था का निर्णय सबेरे ही किया जा सकता है। इसीलिये प्रातःकाल ही नाड़ी देखने का सबसे उत्तम समय माना गया है।

पथ-पर्यटन, परिश्रम या अन्य व्यायाम से थके-माँदे, तुरत खाकर या स्नान करके आये हुए, तुरत तेल लगाये हुए आदमियों की नाड़ी की गति स्वाभाविक नहीं रहती, इसलिये उनकी नाड़ी-परीक्षा उसी समय नहीं करनी चाहिये। नशीली वस्तु सेवन करने के बाद, मैथुन करते समय या मैथुन करने के बाद, रोते समय या रोने के बाद भी नाड़ी की गति कभी स्वाभाविक नहीं रहती।

यहाँ हम यक्ष्मा की विभिन्न अवस्था में नाड़ी की गति का परिचय दे रहे हैं। पुस्तक के दूसरे अध्याय में यक्ष्मा के जिन विभिन्न स्वरूपों का जिस तरह से हमने

विवरण दिया है, उसी क्रम से नाड़ी की गति का भी उल्लेख करेंगे। इसके बाद तीनों अवस्थाओं और उनके विशेष उपसर्गों में नाड़ी की गति कैसी रहती है, इसका भी उल्लेख करेंगे।

साधारण क्षय में नाड़ी की गति क्षीण और मृदु होती है।

सर्दी से होनेवाली यक्ष्मा में नाड़ी की गति वैसी ही मंथर हुआ करती है, जैसी किसी बोझ लदे जानवर की।

न्यूमोनिया जात यक्ष्मा में नाड़ी की गति स्थूल, गम्भीर किंतु द्रुत हुआ करती है।

टाइफायेड जनित यक्ष्मा में नाड़ी की गति कभी स्थिर, कभी मृदु, कभी चंचल होती है।

विषमज्वर जात यक्ष्मा में नाड़ी की चाल कभी चंचल, कभी मृदु और कभी स्थिर होती है।

कालाज्वर से दो तरह की यक्ष्मा का आक्रमण होते देखा गया है—पहली फेफड़े की यक्ष्मा, दूसरी पेट की। फेफड़े की यक्ष्मा में नाड़ी मेढ़क या तीतर की चाल-सी चलती है और पेट की यक्ष्मा में दुर्बल और भारी-भारी-सी रहती है।

मैलेरिया से होने वाली यक्ष्मा में नाड़ी की चाल कभी कभी तो स्थिर, कभी मृदु और कभी चंचल होती है।

रक्तपित्त की यक्ष्मा में नाड़ी की गति चंचल होती है और नाड़ी छूने में कड़ी मालूम होती है।

डिसपेप्सिया की यक्ष्मा की नाड़ी मंद और क्षीण चलती है।

बहुमूत्र जनित यक्ष्मा की नाड़ी कभी मंद और कभी द्रुतगतिशील होती है।

ब्लड-प्रेसर से होने वाली यक्ष्मा में नाड़ी बड़ी तेज चलती है।

छाती के क्षत से होने वाली यक्ष्मा में भी नाड़ी की गति बड़ी द्रुत होती है।

शोष जनित यक्ष्मा में नाड़ी की गति टेढ़ी, क्षिप्र और अस्थिर हुआ करती है।

इसके अलावे दमा से होनेवाली यक्ष्मा में नाड़ी की गति कठिन तथा चंचल वेगयुक्त; क्रॉनिक ब्रोंकाइटिस वाली में द्रुत, स्थूल और गंभीर; ग्रंथि वाली में द्रुत और भारा-क्रांत; गंडमाला वाली में चंचल; अपची वाली में तेज हुआ करती है।

अंग-प्रत्यंग की यक्ष्मा में भी नाड़ी की गति का स्वरूप और प्रकृति भिन्न-भिन्न हुआ करती है। इसलिये यहाँ उसका उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है।

अनुलोम और विलोम क्षय में नाड़ी की गति क्रम से वक्र और तीव्र तथा अस्थिर और चंचल होती है।

कलेजे की यक्ष्मा में नाड़ी की गति सदा चंचल रहा करती है।

पँजरे की यक्ष्मा में नाड़ी मृदु, मंद और गंभीर चलती है।

मेरुदंड की यक्ष्या में नाड़ी की गति टेढ़ी और तेज होती है।

अस्थि की यक्ष्मा में नाड़ी की प्रकृति सूक्ष्म और क्षीण होती है और उसकी चाल होती है कभी मृदु, कभी चंचल।

मस्तिष्क की यक्ष्मा में नाड़ी बड़ी तेज चलती है।

मुँह की यक्ष्मा में नाड़ी की प्रकृति भाराक्रांत तथा चाल तेज और चंचल हुआ करती है।

आँखों की यक्ष्मा में नाड़ी चंचल चलती है।

गलनाली की यक्ष्मा में नाड़ी मृदु और मन्द गतिशील होती है, लेकिन अवस्था विशेष में उसकी गति चंचल भी हो जाया करती है।

अन्ननाली की यक्ष्मा में नाड़ी की प्रकृति गुरु गम्भीर और गति मृदु हुआ करती है।

पेट की यक्ष्मा में नाड़ी मृदु, मन्द और क्षीण गतिशील होती है।

मूत्राशय की यक्ष्मा में नाड़ी की चाल तीखी और टेढ़ी होती है।

गुह्य प्रदेश की यक्ष्मा में नाड़ी की गति तीव्र और वक्र होती है।

स्त्रियों में प्रसूतिका से यक्ष्मा का आक्रमण अधिक होता है। प्रसूतिका जनित यक्ष्मा के दो प्रकार हैं—पेट की यक्ष्मा और फेफड़े की यक्ष्मा। दोनों में नाड़ी की गति भी भिन्न हुआ करती है। पेट की यक्ष्मा में नाड़ी मृदु तथा दुर्बल गतिशील हुआ करती है और फेफड़े की यक्ष्मा में उसकी गति चंचल होती है।

प्रथमावस्था के उपसर्ग और नाड़ी की गति

यक्ष्मा में यदि वायु की प्रधानता हो, तो नाड़ी की गति सूक्ष्म, मन्द और स्थिर होती है। ऐसी अवस्था में वायु का वेग बढ़ जाने पर नाड़ी की चाल तीव्र, वक्र और स्थूल हो जाती है।

पित्त की प्रधानता होने पर नाड़ी की प्रकृति कठिन और चंचल तथा गति तीव्र हुआ करती है।

यदि यक्ष्मा में कफ की प्रधानता हो और रोगी को ज्वर भी हो, तो नाड़ी का स्वभाव शीतल, गंभीर और स्थूल तथा गति मृदु और मन्द होती है।

रक्तपात में नाड़ी मंद और टेढ़ी चलती है।

वमन में नाड़ी की गति खोयी-खोयी-सी हुआ करती है।

खांसी और ज्वर में नाड़ी की गति अस्थिर तथा कांपती-सी रहती है।

अरुचि में नाड़ी का स्वभाव मृदु किंतु कठिन और गति मन्द होती है।

स्वरभङ्ग में नाड़ी सूत-सी पतली होकर सूक्ष्म चलती है।

जलन में नाड़ी चंचल और टेढ़ी चलती है।

बगल की वेदना में नाड़ी वक्र गतिशील होती है।

नाड़ी के गति-ज्ञान के लिये एक बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि रोगी की नाड़ी की गति स्वस्थ व्यक्ति की नाड़ी की गति से हर हालत में भिन्न हुआ करती है। जिसे स्वस्थ व्यक्ति की नाड़ी का ज्ञान है, वह रोगी के नाड़ी के अंतर को आसानी से समझ सकता है। हमारे यहाँ किसी भी वयस्क और पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति की नाड़ी मिनट पीछे ७० से ८० बार तक चलती है। इस-लिये जिस व्यक्ति की नाड़ी मिनट में ७० से कम या ८० से ज्यादा बार संपादित होती हो, समझना चाहिये कि उसमें कोई दोष है। यक्ष्मा के कारण जब शरीर का क्षय शुरू होता है, तो नाड़ी की गति स्वभावतया तेज हो जाती है। और तब उसका स्पंदन एक मिनट में ८० बार से बहुत ज्यादा होता है। क्षय रोगी की नाड़ी में एक क्षयज चंचलता भी मौजूद रहती है और स्पंदन तो

मिनट में ९० बार तक होता है। ऐसी दशा में रोग स्थिर करने में कठिनाई नहीं होती।

मध्य अवस्था और नाड़ी की गति

इस अवस्था में नाड़ी का स्पंदन एक मिनट में १०० से १४० बार तक होता है। इसका कारण यह है कि पहली अवस्था पार करने में कुछ दिन निकल जाते हैं और उस अवधि तक में रोगी की जीवन-शक्ति का प्रति दिन ह्रास होता रहता है और यह ह्रास काफी परिमाण तक पहुँच जाता है। इसी कारण नाड़ी की गति अत्यन्त तेज रहा करती है। अक्सर देखा जाता है कि रोगी को सबेरे बुखार का ताप नहीं रहता। लेकिन तो भी रोगी की नाड़ी इतनी तीव्र चलती पायी जाती है, जैसे उसे जोरों का ज्वर आ गया हो। वास्तव में तो रोगी की अवस्था के अनुसार ही नाड़ी की गति होनी चाहिये। किंतु यक्ष्मा का यह एक विशिष्ट लक्षण है कि रोगी जब अत्यन्त कमजोर हो पड़ता है, तो भी उसकी नाड़ी सबल और तीव्र गतिशील रहती है।

शेष अवस्था और नाड़ी की गति

इस अवस्था में नाड़ी की चंचलता, तीव्रता और अस्थिरता बहुत अंशों में कम हो जाती है, किंतु नाड़ी में

मोटापन का भाव, जो शुरू से ही रहता है, दूर नहीं होता। हाथ-पाँव, मुँह, आँख और अंडकोष में शोथ की उत्पत्ति होने से नाड़ी की प्रकृति सूक्ष्म और रोगी के शरीर के अनुपात से नाड़ी अधिक पुष्ट और सबल मालूम होती है। तीसरी अवस्था रोग की दारुण अवस्था है और शायद ही कोई इस अवस्था से उठ कर फिर से दुनिया और दुनियादारी में अपने को लगा पाता है। रोग के सभी उपसर्ग इसमें सबल हो उठते हैं।

अंतिम अवस्था

इस अवस्था में नाड़ी की चंचलता एकबारगी खो जाती है और वह शिथिल हो पड़ती है। क्षीण और मृदु-मृदु चलती है। कभी-कभी तो इस अवस्था में नाड़ी जगह पर मिलती ही नहीं, क्योंकि यह मृत्यु की सूचना की अवस्था है, जिसमें नाड़ी की गति का अनुभव करना भी कठिन हो जाता है, इतनी क्षीण हो पड़ती है वह।

* *

*

८

आयुर्वेद का त्रिदोष-विज्ञान

[इस अध्याय में प्रसङ्ग गत आयुर्वेद के वात, पित्त, कफ और हृदय-फेफड़ा आदि अङ्गों का विवरण कर देना अनुचित न होगा क्योंकि फेफड़ों से यक्ष्मा बीमारी का विशेष सम्बन्ध है। यक्ष्मा तो फेफड़ों की ही बीमारी है और त्रिदोष तत्वपर आयुर्वेद के सिद्धान्त अवलम्बित हैं अतएव यहां उपरोक्त विषयों पर संक्षिप्त विवरण लिखा जाता है।]

आयुर्वेद का त्रिदोष-विज्ञान बड़ा महत्वपूर्ण विषय है। इसका ज्ञान सर्व साधारण को समझ लेना आवश्यक है। संपूर्ण संसार पञ्चतत्वमय है। और पंच-तत्वों के गुण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध भी सर्वत्र दीख पड़ते हैं। पञ्चतत्व शब्दादि तन्मात्राओं से और तन्मात्रा अहंकार से एवं अहंकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। वास्तव में ये सब प्रकृति के कार्य्य रूप हैं। प्रकृति सत्व, रज, तम इन तीन गुणों वाली है। ये तीन गुण ही रूपान्तर से तीन दोष कहाते हैं। यहां पर त्रिदोष ज्ञान सम्बन्धी विवेचन दिया जाता है। शरीर क्रिया विज्ञान में त्रिदोष-

तत्व आयुर्वेद शास्त्र में अमूल्य रत्न है। मानसिक क्रिया विज्ञान के लिये सत्व, रज, तम, ये त्रिगुण हैं; वैसे ही शारीरिक क्रिया विज्ञान के लिये वातादि तीन दोष हैं। इस समय वायु का अर्थ (Wind) विन्ड (हवा) पित्त का अर्थ वाइल अर्थात् पीले रंग का तरल पदार्थ विशेष, और कफ का अर्थ बलगम समझ कर ही लोग आयुर्वेद की अप-व्याख्या करते हैं। वास्तव में त्रिदोष तत्वों से शरीर को स्वाभाविक क्रियाओं के तथा शरीर की विकृत अवस्था की क्रियाओं के एवं चिकित्सा में भेषज प्रयोग करने के जो अपूर्व नियम बाँधे हैं उन नियमों के एक बार समझने से महर्षियों का दिव्य ज्ञान देख कर सभी को विस्मित एवं मुग्ध होना पड़ता है।

संक्षेप से कहा जा सकता है कि "वा" गति गन्धनयोः इस धातु से वायु शब्द बना है। गति रूपी जितनी क्रियायें हैं वह वायु की हैं। गति रूपी क्रिया शरीर में क्या है ? प्रधानतः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध को मन के पास पहुंचाना और पेशियों में वेग उत्पन्न करके चेष्टाओं का करना ही गतिरूप क्रिया है जो कि पाश्चात्य मत में "सेन्सेशन" (Sensation) मस्क्युलर एकशन (Muscular Action) कहे जाते हैं। पित्त में जो कुछ संकल्प विकल्पादि वृतियां होती हैं वे भी मन की गति रूप क्रिया है। अतः वे भी वायु

के कार्य्य हैं। पाश्चात्य मत में इसे 'इनट्रलेकेशन' (Intrellection) कहा गया है। महर्षि चरक कहते हैं—

वायुस्तन्त्र यन्त्रधरः प्राणोदान समान व्यानापान् प्रवर्तक श्चेष्टाना मुच्चावच्चानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः सर्वेन्द्रियाणामु द्योतकः सर्वेन्द्रियाणामभिवोढा।

—च० सू० अ० १२

अर्थात् वायु शरीर के सब आशय, और यन्त्रों को धारण करता है, इन की क्रियाओं को चलाता है, इस वायु के प्राण, उदान आदि पांच स्वरूप हैं, हृदय, कण्ठ, उदर, त्वक् और गुह्य आदि स्थानों में इन के कार्य्य पृथक् पृथक् स्पष्ट रूप से देखे जाते हैं। वायु ही बड़ी और छोटी सब क्रियाओं का प्रवर्तक है, एवं मन की वृत्तिओं का निर्माणकर्त्ता तथा चालक है। वायु सब इन्द्रियों में चैतन्य देने वाला है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन क्रियाओं का वहन करता है इत्यादि। चरक के इस बचन को देख किस को न प्रतीत होगा कि पाश्चात्य पण्डित लोग जिसे "नर्वफोर्स" (Nerve force) कहते हैं, हमारे आचार्य्य, इस दुर्ज्ञेय वस्तु को "वायु" कहते हैं। षट् चक्र और नाड़ी मण्डल पाश्चात्य शास्त्र का प्रसिद्ध नर्वस सिस्टम्

(Nervous System) ही है। बिजली का पंखा और बिजली की गाड़ी आदि जबतक लोगों ने नहीं देखी थी तब तक कहने से विश्वास नहीं हो सकता था कि बिजली के द्वारा ऐसे २ अपूर्व कार्य्य हो सकते हैं। अब प्रत्यक्ष कार्य्य को देखकर मुटिया-मजूर लोग भी बिजली की अपूर्व शक्ति को मान रहे हैं। ऐसे ही आचार्य्यों का कहा हुआ वायु का प्रमाण भी अब प्रत्यक्ष है। शवच्छेद कर के मस्तिष्क सुषुम्नादि को देखने से और जीवित प्राणी पर नाना विधि परीक्षा करने से प्रत्यक्ष देखने में आता है कि बिजली के समान कोई एक अपूर्व सर्वव्यापिनी शक्ति शरीर में है जिसके प्रभाव से शरीर के सब कल-कांटे चल रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य मत से महर्षियों के मत का प्रभेद इतना ही है कि पाश्चात्य मतवालों ने नर्व-फोर्स (Nerve force) को स्वीकार करके उसको अज्ञेय कहकर छोड़ दिया है, और हमारे महर्षि लोगों ने अतीन्द्रिय ज्ञान से इसका स्वरूप वर्णन कर दिया है।

रूक्षः शीतोलघुः सूक्ष्मश्चरोथ विशदः खरः
विपरीत गुणैर्द्रव्यैमारुतः सम्प्रशाम्यति ॥

अर्थात "वायु" रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, और खर गुणों वाला है, इनके विपरीत गुण सम्पन्न

द्रव्यों से वायु की शान्ति होती है। मूर्ख लोग समझते हैं कि वायु के गुण वर्णन स्व-कपोल कल्पना है, किन्तु वे तनिक विचार कर नहीं देखते हैं कि विपरीत गुण द्रव्यों से जो वायु की शान्ति हो रही है, केवल इस बात से ही महर्षियों के दिव्य ज्ञान की सत्यता प्रमाणित हो रही है।

प्रकतिस्थ वायु के विषय पर स्पष्ट कह के विकृत वायु के विषय में चरक पुनः लिखते हैं--

"कुपितस्तुखलु शरीरं नानाविधैर्विकारै रुपतपति, वलवर्ण सुखायुषामुपघातस्य भवति, मनो व्यावर्त्तयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहति" इत्यादि

अर्थात् कुपित वायु शरीर में आध्मान, स्तम्भ, रौक्ष्य आदि नाना विधि विकारों को उत्पन्न करता है, मनुष्य का बल, वर्ण, सुख और आयु को नष्ट करता है। मन की विकृति उपजाता है। इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट करता है इत्यादि।

इसी कारण पाश्चात्य-शास्त्र में जिन रोगों को Nervous Debility, Neurosthenia, आदि नाम से निर्देश करते हैं, वैद्य लोग उन सब रोगों को वायु ही समझते हैं। और पाश्चात्य मत में जिस मनुष्य को Nervous Eurotic या Hysterical कहते हैं हम लोग उनको वात प्रकृति

कहते हैं। जिस बात प्रकृति का स्वरूप आचार्य्य लोग स्पष्ट लिख गये हैं "अधृतिरदृढ़ सौहृदः कृतघ्नः कृश पुरुषो धमनी ततः प्रलापी द्रुतगति रटनो नवस्थितात्मा" इत्यादि (सु० शा० ४ अ०)। इन सब बातों को देख कर कौन स्वीकार न करेगा कि ऋषि लोग समग्र नाड़ी मण्डल की क्रिया को करामलक समान समझते थे और 'वायु' इन दो अक्षरों में सब का अवरोध कर चुके थे। अतएव सुश्रुत स्पष्ट कहता है कि "प्रस्पन्दनोद्वहन पूरण विवेक धारण लक्षणो वायुः पंचधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति" (सु० सू० अ० १५)। अतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि वायु का अर्थ हवा नहीं है। शरीर में उदगार, अधो वायु आदि धातुभूत नहीं है, यह मल भूत वायु रूप हैं, इनके विषय में वायु का प्रसंग नहीं चला है।

पित्त

"तप सन्तापे" इस घातु से पित शब्द बना है। शरीर में सन्ताप का मूल भूत जो कुछ सूक्ष्म अतीन्द्रिय वस्तु है "पित्त" उसी का नाम है। शरीर में जो कुछ तेजो गुण के कार्य्य होते हैं पित्त ही उनका परिचालक है। तेजो गुण के कार्य्य शरीर में कौन हैं? शरीर के स्वाभाविक सन्ताप रक्षा (जिस से शरीर का सन्ताप ९८ से ९८॥ डिगरी तक बना रहता है) और त्वक् की शोषण शक्ति, अन्न

का विपाक, मन की तेजस्विता, दृष्टि की उज्वलता, और रक्त का उज्वल लालवर्ण, ये ही तेजो गुण के प्रधान कार्य्य शरीर में है। इन कार्य्यों के मूल भूत तत्वों को अचार्य्य लोगों ने अतीन्द्रिय ज्ञान से प्रत्यक्ष कर लिया था। अब पाश्चात्य मत में इस को कोई एक अज्ञेय (Heat producing mechanism) संताप देने वाला अतीन्द्रिय वस्तु कह के पुकारते हैं। पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि निरन्तर शरीर में जो धातु क्षय हो रहा है, इसी धातु क्षय व धातु दाह से (Combstion) अग्नि गुण उत्पन्न हो कर शरीर का सन्ताप रक्षित होता है। चरक भी कहते हैं "अग्नि रेवहि पितान्तर्गतः कुपिता कुपितः शुभाशुभानि करोति स यदा नेन्धनं युक्तं लभते तदा देहजं रसं हिनस्ति"। इस बचन का अभिप्राय यह है कि अग्नि के प्रभाव से शरीर के सब धातुओं का निरन्तर क्षय होता रहता है। उस क्षय की पूर्ति के लिये अहार रूप इन्धन पहुंचना चाहिये। पाश्चात्य मत के साथ ऋषियों के मत का इतना सादृश्य रहने पर भी स्मरण रखना चाहिये कि अग्नि केवल आहार रूप इन्धन से ही शरीर में अग्नि गुण सम्पन्न सर्व व्यापी पित्त की सत्ता का सूक्ष्मदर्शी महर्षी लोग स्वीकार करते हैं और कहते हैं "बात पित्त श्लेष्माण एव देह सम्भव हेतवः" परन्तु पाश्चात्य मत वाले अभी तक उतनी सूक्ष्मता को नहीं

पहुंचे हैं। इस धातु भूत पित्त का गुण क्या है ? जिस पर आचार्य्य लोग अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कर के कहते हैं—

सस्नेह मुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीत गुणैः पित्तं द्रव्यैराशु विशाम्यति॥

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहने का अभिप्राय यह है कि यकृत से निस्तृत पीत वर्ण तरल पदार्थ पित्त के विषय में यह लेख नहीं है। क्योंकि उस में यह सब गुण वर्तमान नहीं दीख पड़ते। ऋषियों के अतीन्द्रिय ज्ञान की सत्यता का अनुमान अब भी इस प्रमाण से हो सकता है। ऊपर लिखित गुणों के विपरीत गुण सम्पन्न द्रव्यों के उपयोग से निपात ही पित्त की शान्ति है। कुपित पित्त के लक्षण आयुर्वेद में जिस प्रकार कहे गये हैं तथा विस्फोटक, भ्रमोद्गार, ऊष्मा अदि अब भी पित्त की शान्ति से शान्त होते हैं। पाश्चात्य मत जिसे वाइल कहते हैं वह मल रूप वा किट्ट रूप पित्त है। धातु रूप पित्त के साथ इस का अर्थ मिलाना बहुत भूल है। इस मल भूत पित्त का लक्षण आयुर्वेद में इस प्रकार है—

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नील पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसञ्चैव विदग्धं चाम्ल मेवच॥

—सु० सू० अ० २१।

श्लेष्म "श्लिष आलिंगन" इस धातु से श्लेष्मा शब्द बना है। श्लेष्मा सोमगुणात्मक वस्तु है, पित्त के समान धातुभूतश्लेमा भी अतीन्द्रिय पदार्थ है। शरीर में तर्पण (तरावट रखना) श्लेषण (संयोजित रखना) पोषण आदि सोमधातु के सब कार्य्य श्लेष्मा का ही है। पित्त यदि अग्नि रूप है तो श्लेष्मा जल रूप है। केवल अग्नि से दाह मात्र होता है। जल से उस अग्नि की तीक्ष्णता दूर होती है। सब स्थानों पर तरावट पहुंचती है अतएव सुश्रुताचार्य्य कहते हैं—

सन्धि संश्लेषण स्नेहन रोपण पूरण बृंहण तर्पण वलस्थैर्यकृत् श्लेष्मा पंचधा पुनि भक्त उदक कर्सणानुग्रहं करोति।

आर्थात् सन्धियों का संश्लेषण (तैल के सदृश पदार्थ से चिकना रखना) स्नेहन (कण्ठ जिह्वादि स्थानों को तर रखना) अन्न का क्लेदन, धातुओं का पूरण और पोषणादि जल के कार्य्य से कफ शरीर को तर रखता है। यदि शरीर में इस श्लेष्मा की तरावट न रहे तो शरीर थोड़े ही दिनों में दग्ध हो जावे। अतीन्द्रिय श्लेष्मा यद्यपि एक ही है, तथापि कार्य्य के अनुसार पित्त के सदृश इस के भी पांच विभिन्न रूप हैं। जिन के नाम श्लेषक

(Synovia) क्लेदक (Saliva) आदि रक्खे गये हैं। धातु रूप श्लेष्मा के अतीन्द्रिय रूप का प्रत्यक्ष कर के आचार्य्य कहते हैं कि :-

गुरुशीत मृदुः स्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छिता।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीत गुर्णैर्गणः॥

महर्षियों के इस उपदेश की सत्यता चिकित्सा के समय सभी को प्रत्यक्ष प्रतीत होती है, परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि नासिका और मुख से जो श्लेष्मा गिरती है वह किट्ट या मल रूप है और उसके विषय में श्लेष्मा का शरीर धारकत्व नहीं कहा गया है। सुतरां धातुभूत कफ पित्त वायु के ही विषय में कहा गया है :—

विसर्गादान विक्षेपैः सोम सूर्या निला यथा।
धारणान्ति जगद्देहं कफ पित्तानिलस्तथा॥

अर्थात विसर्ग, आदान और विक्षेप से (तर्पण, शोषण, संधारण) चन्द्र, सूर्य्य और वायु जिस प्रकार जगत को धारण करते हैं उसी प्रकार कफ, पित्त और वायु भी शरीर को धारण करते हैं। मल, मूत्र वायु, पित्त, कफ के विषय में स्पष्ट ही निर्देश है कि :—

पक्वाशयन्तु प्राप्तस्य शोषमानस्य विह्निना।
परि पिण्डित पक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः ॥
किट्टमन्यस्य विण्मूत्र रसस्य चकफोऽसृजः।
पित्तं मांसस्यच मलो मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥
—चरक।

वायु, पित्त, कफ के विषय में शेष का वक्तव्य कहते हैं कि वायु, पित्त, कफ केवल शरीर के ही तीन स्तम्भ रूप हैं। यही नहीं किन्तु समग्र आयुर्वेद में हेतु लक्षण, औषध के तीन स्कन्ध स्वरूप हैं। मनुष्य का वयः क्रम अहोरात्रं, षड़ ऋतु, अन्न विपाक आदि सभी में वात-पित्त-कफ का प्रभाव महर्षियों ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है, जिस से कार्य्यो में पूरी २ सहायता मिलती है ।

हृत्पिण्ड

वास्तव में रक्त ही हमारे शरीर का पोषक है। यह हमेशा नाड़ियों में रहता है और इसमें गति देनेवाला हृत्-पिण्ड है। यह हृदय अनेच्छिक (Involuntary) माँस पेशियों से बना रहता है। यह वक्ष के भीतर बायें फेफड़े में विशेष, दाहिनी ओर कुछ कम, इस तरह वक्ष के नीचे रहता है। किसी मनुष्य के हृत्पिण्ड की माप उसके हाथ

की बन्द मुट्ठी की लम्बाई-चौड़ाई समझ लीजिये। हृदय के बीच में जो मोटी हड्डी (वक्षोस्थि-Sternum) है, उसके दोनों ओर दो फेफड़े (श्वास-यन्त्र) हैं। बायीं ओर के फुस्फुस या फेफड़े के नीचे हृदय का स्थान है, पर उसकी चौड़ाई के कारण वह कुछ दाहिनी ओर भी चला जाता है।

हृदय सौत्रिक-तन्तु से बने हुए एक थैली जैसे पदार्थ में रहता है। इसे हृदयकोष (Pericardium) कहते हैं और उसके भीतर भी एक झिल्ली जैसा अस्तर चढ़ा है, उसको एण्डोकार्डियम (Endocardium) कहते हैं। यह हृदयकोष या आवरण का ऊपरी भाग कुछ कड़ा पर भीतरी बहुत ही चिकना होता है। यह हृदयकोष भी दो भागों में बँटा है। एक भाग तो हृतपिण्ड से लगा रहता है और दूसरा अंश सौत्रिक तन्तु के भीतरी गात्र में रहता है। इन दोनों स्तरों के बीच का भाग जलीय अंश (Serum) द्वारा हमेशा तर रहता है, इससे हमेशा धड़-कते रहने पर भी हृत्पिण्ड दूसरे यन्त्र या देह से टक्कर नहीं खाता।

असल में यह हृदय चार खानेवाली एक कोठरी के समान है। यह एक पेशीमय कोठरी है, जिसमें चार खाने हैं। हृदयकोष बीच में एक मांस के पर्दे द्वारा दाहिने, बायें, इस तरह दो भागों में बांट दिया गया है। ये दोनों

हृदय (१) बायां अर्द्ध भाग।
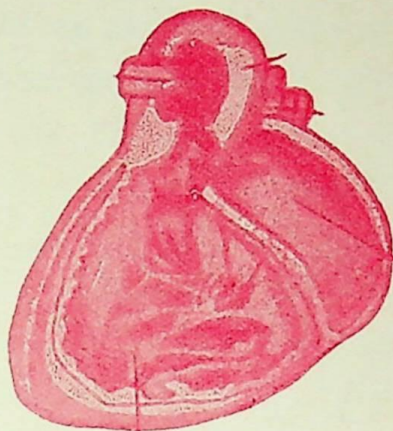
ही अलग-अलग कोठरियाँ हैं। आपस में इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसके बाद दोनों के दो-दो भाग हो गये हैं। अर्थात् मध्य में एक छत-सी हो गयी है। इस तरह ये दोनों कोठरियाँ, एक तरह से दो मंजिली हो गयी हैं। इनमें ऊपर की मंजिल कुछ छोटी होती है, इसे ग्राहककोष (Atrium or Auricle) कहते है। नीचे की दोनों कोठरियाँ क्षेपक कोष्ठ (Ventricles) कहलाती हैं। यह छत जो हम बता आये हैं, वह सौत्रिक तन्तु से बने पतले किवाड़ों से निर्मित है। ये किवाड़ ऊपर की ओर नहीं खुलते बल्कि नीचे की ओर खुलते हैं। इसमें बाईं ओर तो केवल दो किवाड़ हैं पर दाहिनी ओर तिकोनिये तीन किवाड़ हैं। इन्हें हृदय-कपाट कहते हैं। इस वजह से नीचे का रक्त ऊपर नहीं जाता, ऊपर से ही नीचे आता है।

अब इन चार खानों में दाहिनी ओर का ऊपर वाला कोष (ग्राहक कोष्ठ Right Atrium or Auricle) हृत्पिण्ड के ऊपरी भाग में और दाहिने अंश में रहता है। इसकी दीवार पतली है और एक कोने में कान की तरह का एक अंश रहता है। इसका भीतरी अवयव चिकना है। इस दाहिने ग्राहक-कोष्ठ में एक ऊपर के भाग में तथा दूसरी नीचे के भाग में इस तरह दो शिराएँ रहती हैं। ऊपरवाली को ऊर्ध्व-महाशिरा (Superior Venacava) और दूसरी निम्न महाशिरा (Inferior Ven-

acava) कहते हैं। ये दोनों ही शिराएँ अशुद्ध रक्त को इकट्ठा कर लाती हैं। उर्ध्व महा-शिरा ऊपरी यंत्र जैसे सर, उर्ध्व शाखा तथा वक्ष आदि से तथा निम्न महाशिरा पेट तथा अधोशाखाओं से अशुद्ध रक्त ले आती है।

बायाँ ग्राहक-कोष्ठ (Left Atrium) हृत्पिण्ड के ऊपर खानों में बाईं ओर और कुछ पीछे हट कर है। इसमें दोनों फेफड़ों से, दो दो के हिसाब से चार फुस्फुसिया शिराएँ (Pulmonary Veins) आई हैं और एक छेद से बायें क्षेपक-कोष्ठ में मिल गयी हैं।

दाहिना क्षेपक-कोष्ठ (Right Ventricle) हृत्पिण्ड का प्रधानतः सम्मुख वाला भाग अधिकार किये है। इसमें से दो शाखाओं वाली एक ऐसी नली निकली है जिसकी दो शाखाएँ हो गयी हैं। ये दोनों फेफड़ों में जाती हैं। ये फेफड़े या फुस्फुस वाली धमनियाँ (Artery) हैं। इनके आरम्भ स्थान में वह तीन कपाटों से निमित (Tricuspid) कपाट (Valve) रहता है और इसी वहज से कोष्ठ से रक्त धमनी में चला तो जाता है पर उल्टा लौट कर नहीं आ सकता।

बायाँ क्षेपक-कोष्ठ प्रधानतः हृत्पिण्ड के पिछले भाग और सम्मुख के बायें अंश में है। इसका गात्र दाहिने क्षेपक की अपेक्षा तिगुना बड़ा है। इसमें चार नलियाँ हैं, जिनमें दो दाहिने और दो बाएँ फेफड़े से आती हैं।

ये फुसफुसिया शिराएँ (Pulmonary Veins) हैं। ये दोनों हृदय से जुड़ी हुई हैं। इनके पिछले भाग से महाधमनी (Aorta) नाम की बहुत मोटी नली निकली है। इस फुसफुसिया धमनी (Pulmonary Artery) को छोड़ कर शरीर की यावत धमनियाँ इसी महाधमनी से निकली हैं। कोष्ठ के भीतर जिस स्थान पर इस धमनी का आरम्भ हुआ है, वहाँ भी दो किवाड़ों से निर्मित (Bicuspid Valve) कपाट हैं और यही वजह है कि कोष्ठ से रक्त धमनी में तो चला जाता है, पर फिर कपाट के कारण लौट कर कोष्ठ में नहीं आ सकता।

समूचे हृदय में चार कपाट होते हैं। दो दोनों ग्राहक और क्षेपक कोष्ठों के बीच में, फुस्फुसिया धमनी में और एक महाधमनी में। इन किवाड़ों के कारण रक्त उल्टा नहीं लौट सकता अथवा क्षेपक कोष्ठ में नहीं जा सकता।

रक्त-सञ्चालन या हृदय का कार्य

यह तो सभी जानते हैं, कि रक्त सारे शरीर में व्याप्त रहता है। पर यह कैसे घूमता रहता है, यही समझने की बात है। यह हृदय का काम है। हृदय कभी चुप नहीं बैठा रहता है। हमेशा उसमें गति होती रहती है। यह गति उसका सिकुड़ना और फैलना है। मानो किसी रबर के

गेंद में हवा या पानी भरा, दाबा और निकाल दिया। हृदय में अनवरत यही क्रिया होती रहती है।

सारे शरीर में रक्त है अवश्य, पर यह दूषित भी हो जाता है। अतः यह दूषित रक्त यदि ज्यों का त्यों पड़ा रह जाये, तो प्राणीजीवन थोड़ी ही देर में समाप्त हो जाये। अतएव, अनवरत रक्त शुद्ध करने की क्रिया भी चलती रहती है। रक्त का शोधन फेफड़ा (फुफ्फुस) द्वारा होता है। अब यह समझिये कि हृत्पिण्ड और फेफड़े की नाड़ियों का कैसा सम्बन्ध है, कि सारे शरीर का रक्त परिष्कार भी हो जाता है और नया रक्त सारे शरीर में फैलता भी रहता है।

जिन अंगों वा यंत्रों द्वारा ये कार्य होते हैं, उनका वर्णन ऊपर हो चुका है। अब उनका कार्य देखिये। बात यह है कि निर्मल रक्त हृत्पिण्ड से निकल कर शरीर के सब अंशों को धोता हुआ दूषित होकर हृत्पिण्ड में लौट आता है। यही रक्त फिर हृत्पिण्ड में से फेफड़े में जाता है, वहाँ शोधित होकर, हृत्पिण्ड में लौट आता है। रक्त जब हृत्पिण्ड से निकलता है, उस समय उसका रंग घोर लाल रहता है पर जब हृत्पिण्ड में लौट कर आता है, उस समय दूषित पदार्थों के संयोग से घर धोए हुए मैले पानी जैसा गदला कुछ कालिमा लिये या बैंगनी रंग का हो जाता है।

अब यह क्रिया इस तरह होती है, कि शरीर के ऊपरी भाग का दूषित रक्त सब उर्द्ध्वमहाशिरा (Superior Venacava) द्वारा और अधोभाग का दूषित रक्त निम्न महाशिरा द्वारा (Inferior Venacava) द्वारा दाहिने ग्राहक कोष्ठ में (Right Auricle) में लौट आता है। जब यह कोष रक्त से भर जाता है, तब वह सिकुड़ने लगता है, इनके सङ्कुचित होने पर उसके नीचे वाले त्रि-कपाट (Tricuspid Valve) पर दबाव पड़ता है। इस दबाव से यह दरवाज़ा खुल जाता है और सारा रक्त दाहिने क्षेपक-कोष्ठ में प्रवेश करता है। इसी समय दबाव पड़ने पर त्रिकपाट द्वारा बन्द हो जाता है। अतएव, खून ऊपर वाले ग्राहक-कोष्ठ में लौट कर नहीं जा पाता। अब दबाव के कारण खून बृहत फुसफुसिया धमनी में (Pulmonary Artery) में प्रवेश करता है और तुरन्त फेफड़े में जा पहुँचता है। वहीं दूषित रक्त फेफड़े में जाने के साथ ही स्वच्छ और परिष्कार हो जाता है। उसका रंग भी लाल हो जाता है।

अब यह रक्त किस तरह फेफड़े में जाकर शुद्ध होता है, सो देखिये—

ऊपर हम बता चुके हैं, कि क्षेपक-कोष्ठ से फुसफुसिया धमनी में और इस धमनी के द्वारा रक्त फेफड़े में जाता है। वास्तव में यह फुसफुसिया धमनी हृदय से निकल

कर, दो हिस्सों में बंट कर दोनों फेफड़ों में जा पहुंची है, क्योंकि फेफड़े दाहिनी और बायीं ओर, एक-एक, इस तरह दो हैं। फेफड़ों का वर्णन आगे किया गया है। यह वास्तव में एक जालमय अंग है, जिनमें वायुकोष भरे हुए हैं। फुसफुसिया धमनी के दोनों भाग दोनों फेफड़ों में जाकर बहुतसी सूक्ष्म-नलियाँ बन गयीं हैं। ये बहुत ही पतली-पतली होकर वायुकोष्ठ तक जा पहुंची हैं। इन पतली सूक्ष्म नलियों को केशिकाएं (Capillaries) कहते हैं। एक प्रकार से इन केशिकाओं ने वायुकोषों को घेर रखा है। यहां यह अवस्था हो गयी है, कि केशिका की दीवार तथा वायुकोषों की दीवारों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। साथ ही इन दोनों की दीवारें इतनी पतली हैं, कि उनसे प्रत्येक पदार्थ को आदान-प्रदान अनायास ही हो सकता है।

अब क्रिया यह होती है, कि एक ओर तो वायुकोषों में नथुनों द्वारा शुद्ध हवा पहुंचा करतो है, दूसरी ओर केशिकाओं द्वारा अशुद्ध रक्त वायुकोषों के पास जा पहुंचता है। वायुकोष में शुद्ध वायु के संस्पर्श से यह अशुद्ध रक्त शुद्ध हो जाता है। यह इस तरह कि वायुकोष का संस्पर्श होते ही रक्त की कारवोनिक एसिड गैस वायुकोषों में चली जाती है और उन वायुकोषों से आक्सिजन गैस

रक्त खींच लेता है। इस तरह केशिकाओं द्वारा लाया हुआ अशुद्ध रक्त फेफड़े में शुद्ध होता है।

अब यह फुफ्फुस में विशोधित हो जाने पर चार फुफ्फुसिया शिराओं (Pulmonary veins) द्वारा बाएं ग्राहक कोष्ठ में जाता है। वह भी रक्त से भरते ही सिकुड़ने लगता है और इस तरह दबाव पड़ने से द्विकपाट (Biscupid valve) खुल जाता है और रक्त तुरन्त बायें क्षेपक-कोष्ठ में पहुंचता है। वहां रक्त पहुंचते ही यह भी सिकुड़ने लगता है और दबाव पड़ने से ऊपरवाला द्विकपाट बन्द हो जाता है। अतएव, यह खून फिर ऊपर नहीं जा पाता। अब दबाव के कारण रक्त महाधमनी (Aorta) से निकल पड़ता है और इस महाधमनी में वहुत शाखा-प्रशाखाएं रहने के कारण वह रक्त सारे शरीर में फैल जाता है। यह सिकुड़ने-फैलने और रक्त प्रवाह का सिलसिला यावज्जीवन जारी रहता है। दोनों ग्राहक कोष्ठ एक साथ ही रक्त से भरते और खाली होते हैं, इसी तरह दोनों क्षेपक कोष्ठ भी। इसका क्रम यह है, कि पहले ग्राहक कोष्ठ भरते-सिकुड़ते हैं, फिर क्षेपक कोष्ठ। इस तरह सारा हृदय फैलता, फिर सिकुड़ता और फैलता है।

इस तरह लगातार हृत्पिण्ड के सङ्कोचन और प्रसारण की वजह से रक्त सारे शरीर में प्रवाहित होता है। हृत्पिण्ड

से जोर से रक्त-प्रवाह धमनी में परिचालित होता है। इस-लिये हृत्पिण्ड के स्पन्दन के साथ नाड़ी या धमनी का भी स्पन्दन हुआ करता है।

हृदय का शब्द

हृदय जब सिकुड़ता है, तब रक्त को जोर से धमनियों में ढकेलता है। इसी कारण हृदय के संकोचन और प्रसारण से एक प्रकार का शब्द होता है जो लप-डप (Lup dup) जैसा सुन पड़ता है। हृदय की इस आवाज को अंगरेजी में सिस्टोल (Systole) कहते हैं। हृदय जवान मनुष्यों में ७०-७५ बार, जन्मते वच्चे का १४० बार, ११ से १४ वर्ष की उम्र वालों को ७५ से ८५ बार धड़कता है पर वृद्धावस्था में हृदय की धड़कन बढ़ जाती है।

फेफड़ा

हमारे श्वासोच्छ्वास के प्रधान साधन फुफ्फुस (Lungs) या फेफड़े हैं। फेफड़े या फुफ्फुस दो हैं। वक्ष-गह्वर में हृत्पिण्ड के दोनों ओर हैं और इसलिये ये दाहिने और वाएं फेफड़े (Right and Left lungs) कहलाते हैं। फुसफुस का रंग कुछ नीलिमा लिये धुमैला रहता है। ये मुलायम, दबाने पर स्पंज जैसे नर्म और वजन में हलके होते हैं। इनमें स्पंज ही की तरह बहुत से

श्वास-यंत्र ।
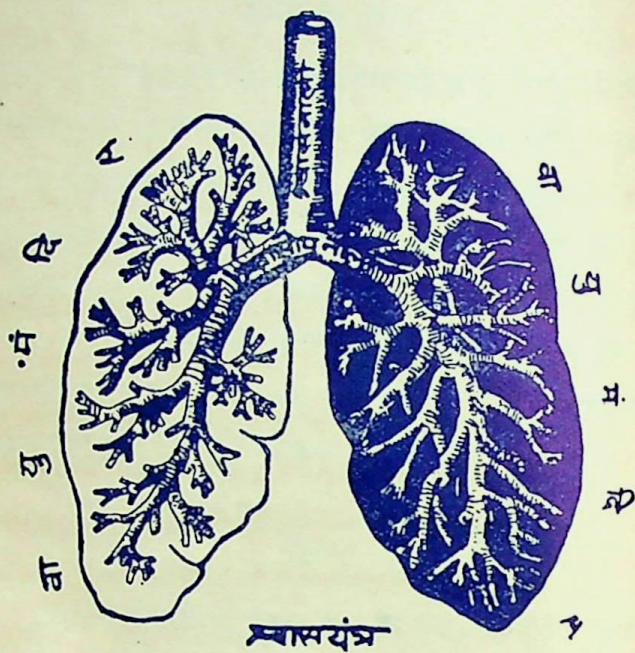
छिद्र भी होते हैं। स्वस्थ मनुष्य का फेफड़ा इतना हलका होता है, कि पानी में तैर सकता है। यह आयतन में हृत्पिण्ड की अपेक्षा कुछ बड़ा होता है, पर दाहिना फेफड़ा बायें की अपेक्षा कुछ चौड़ा और वजन में भी कुछ भारी होता है। फेफड़े गावदुम आकार के होते हैं, एक ओर मोटे, अधिक चौड़े तथा दूसरी ओर कुछ कम चौड़े और पतले होते हैं। यह पतला भाग फुसफुस शिखर कहलाता है और ऊपर की ओर रहता है, तथा चौड़ा भाग नीचे की ओर। दोनो फेफड़े संकोचन और प्रासारणशील होते हैं आर्थात् इच्छा करने पर बढ़ाये-घटाये जा सकते हैं। हरएक फुसफुस के ऊपर सौत्रिक तन्तु निर्मित एक आवरण रहता है। यह झिल्ली फुस्फुसावरण (Pleura) कहलाती है। इसके अलावा फुसफुस में और भी कई छोटे-छोटे अंश होते हैं। इन्हें भी आकार-प्रकार में छोटे फुसफुस ही समझना चाहिये। वे वायु मन्दिर या वायुकोष (air cells) कहलाते हैं। दाहिने फुसफुस में तीन और बाएँ में दो उपखण्ड (Lobes) हैं। इन दोनों फेफड़ों को ऐसे असंख्य वायुकोष (air cells), श्वासोपनली (Bronchial tubes) धमनी, शिरा और कैशिक नाड़ियों का समष्टि कहना चाहिये अर्थात् ऐसे सूक्ष्म-यन्त्रों द्वारा ही फेफड़ों की रचना हुई है।

नाक के छेद से लेकर फेफड़े तक वायु के जाने-आने का जो रास्ता है, वह श्वास-मार्ग (Respiratory tract) कहलाता है। फुसफुस में नाक (Nose), गला या कंठ, स्वर यंत्र (Larynx, Trachea) टेटुआ तथा टेटुए से जो नलियाँ फुसफुस में गयी हैं अर्थात् वायु प्रणालियाँ—इन मार्गों से वायु फेफड़े में पहुंचती है।

गले के बीच से श्वासनली (Wind pipe) वक्ष गह्वर में आकर दो भागों में विभक्त हो गयी है, इन दोनों में एक एक फुसफुस लगा है। वायु-नलियां बहुत सी सूक्ष्म और सूक्ष्मतर असंख्य शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर फुसफुस में फैल रही हैं। इन सब को श्वासोपनली (Bronchial tubes) कहते हैं। प्रत्येक श्वासोपनली के अन्त में छोटे छोटे अंगूर के गुच्छे की तरह कितने ही कोष या थैलियां हैं। उन्हें फुसफुस-कोष-गुच्छ (Lung sacs) कहते हैं। इसीलिये, इनमें से प्रत्येक कोष को 'वायु-कोष' (air cells) भी कहते हैं।

हृत्पिण्ड से फुसफुसिया धमनी (Pulmonary artery) आकर पहले दो भागों में बँटकर फिर असंख्य कैशिक नाड़ियों में बँट गयी है। ये कैशिक नाड़ियाँ वायु-कोष के चारों ओर जा पहुंची है। इनका दूसरा सिरा फुसफुसिया शिरा से संलग्न है।

फेफड़े से हम लोग श्वास-प्रश्वास की क्रिया साधन करते हैं। साथ ही इन फेफड़ों द्वारा ही रक्त-शोधन की क्रिया भी होती हैं। आक्सिजन (Oxygen) नामक एक प्रकार की गैस है। यही गैस हम लोगों के जीवन धारण की प्रधान सहायक है। शरीर की दूषित काली रक्त-कणिकाएँ सब, श्वास-प्रश्वास की क्रिया की सहायता से, फुसफुस के वायु कोष के वायु से, आक्सिजन वाष्प ग्रहण कर साफ और लाल रंग की हो जाती हैं और शरीर के भीतर के संगृहीत दूषित पदार्थ इसी वायु से निकल जाते हैं। ये सभी दूषित पदार्थ प्रश्वास क्रिया द्वारा ही शरीर से बाहर निकल जाते हैं। ये वायुकोष तथा कैशिक नाड़ियाँ सूक्ष्म झिल्ली से आवृत्त हैं। इसलिये इन पर्दों या झिल्लियों के भीतर से रक्त के साथ वायु के आदान-प्रदान कार्य में किसी तरह का व्याघात नहीं होता।

उदर और वक्ष को अलग करती हुई एक चिपटी माँस पेशी है, उसे उदरवक्ष व्यवधायक पेशी (Diaphragm) कहते हैं।

यह माँस पेशी पंजरा, छाती का हाड़ और मेरुदण्ड के साथ इस तरह संलग्न है, कि छाती के ऊपर उठकर, यह एक खुले छाते की तरह हो जाती है। यही उदर को वक्षोगह्वर से अलग करती है। इसके संकुचित होनेपर

वक्षोगह्वर और उसके साथ ही फेफड़ा प्रसारित हो जाता है। इससे फुस्फुस में वायु प्रवेश करता है। यह सांस लेना कहलाता है और यही पेशी जब खुले छाती की तरफ प्रसारित होती है, तब फेफड़ा संकुचित होता है। इस समय हम लोग सांस त्याग करते हैं। यही श्वास-प्रश्वास क्रिया है।

श्वास लेने के समय हवा प्रधानतः नाक द्वारा और कभी मुख गह्वर और नाक द्वारा प्रवेश करती है। इसके बाद गले की नली और श्वासनली के भीतर से फेफड़े में आ पहुंचती है। इस तरह श्वासनली के भीतर से वायु-कोषों को परिपूर्ण करती है।

श्वासनाली

श्वासनाली प्रायः चार इंच लम्बी, बीच से खोखली एक प्रकार की नली है। इसका भीतरी भाग श्लैष्मिक झिल्ली से ढंका है और बाहरी भाग उपास्थि बन्धन (bonds of cartilage) से घिरा रहता है। यह गले की राह से वक्ष-गह्वर में चली जाती है। वक्ष-गह्वर में जाकर यह दो शाखाओं में बँट जाती हैं। एक दाहिनी और दूसरी बाईं ओर के फुस्फुस में प्रवेश करती है। ये ही दोनों शाखाएँ वायुनाली (Bronchi) कहलाती हैं। श्वास-नाली (Trachea) और वायुनाली (Bronchi) फेफड़े में हवा जाने के प्रधान पथ (air pssages) हैं।

श्वासनाली के अगले भाग को कण्ठ या टेंटुआ कहते हैं। इसका ऊपर वाला मोटा और चौड़ा भाग स्वरयन्त्र (Larynx or voice box) कहलाता है। यह गले के मध्य भाग में है। इस कण्ठनाली से ही हम लोग बोल सकते हैं, कण्ठनाली से एक छेद गले के अगले भाग में या गलकोष (Pharynx) में है। इसी गलकोष से फिर एक छेद नासारंध्र (Nasal aperture) और एक मुख गह्वर में खुला हुआ है। अतएव, सांस लेने के समय वायु नासागह्वर से पहले गले के अगले भाग में जाती है, वहां से कण्ठनाली में जाकर श्वास-प्रणाली में और वहाँ से वायुनाली में होकर फुस्फुस में जा पहुंचती है। श्वास-नाली के मुंहपर एक मांस का परदा जैसा (Epilotti) है। इसी जगह से इसमें हठात् कोई दूसरा पदार्थ प्रवेश नहीं कर पाता।

इस श्वासनाली के पास ही "अन्नवहा-नाली" (Alimentary Canal) है। इसी वजह से जब कभी हमारी असावधानी से कोई पदार्थ अन्न-नाली में न जाकर श्वासनाली में चला जाता है तो हम लोगों की तबीयत घबरा उठती है। परन्तु ऊपर बताया हुआ ढकना (Epilottis) ही इसकी प्रधान रोक है। क्योंकि भोजन निगलने के समय श्वास-नाली का मुँह बन्द हो जाता है

और भोजन का पदार्थ गले में उतरते ही आप से आप श्वासनाली का मुँह खुल जाता है।

श्वास-प्रश्वास

सांस लेने को श्वास और छोड़ने को प्रश्वास कहते हैं। युवकों की श्वास-प्रश्वास की संख्या मिनिट में १६-१७ बार है। नवजात शिशु में ४४ बार, ५ वर्ष की अवस्था में २५-२६ बार। इसके आलावा शारीरिक परिश्रम आदि से अथवा रोगों के कारण श्वास-प्रश्वास की संख्या बढ़ जाती है।

इस तरह श्वास क्रिया द्वारा हमारा रक्त शुद्ध होकर जीवन संचालन होता है।

पोषण-संस्थान

पोषण की सारी क्रिया उदर से होती है, इसका मतलब यह है कि पोषक यन्त्र या पाचक यन्त्र (Digestive Organs) पेट में ही है। वक्ष के नीचे का अंश जिसमें पसलियाँ नहीं हैं, उदर कहलाता है। उदर में खाद्य पदार्थ को पचाने और रस बनाने वाले निम्नलिखित अङ्ग रहते हैं। पाकस्थली, आँते (बड़ी और छोटी), यकृत और पित्त-कोष, प्लीहा, क्लोम-ग्रन्थि, वृक्क या गुर्दे, मूत्रग्रन्थि, मूत्रा-

पोषण-यंत्र।
स्वरयंत्र
कंठनाली
बांया फुफ्फुस
दाहिना फुफ्फुस
हृत्पिण्ड
पाकस्थली
प्लीहा
यकृत
मूत्रग्रन्थि
मूत्रग्रन्थि
अंत्र
अंत्र
मूत्राशय
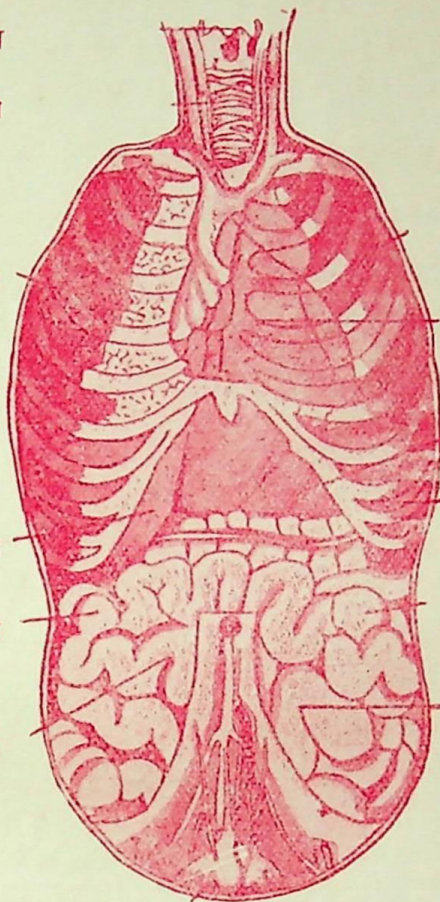
शय, वस्ति-गह्वर, शुक्राशय तथा स्त्रियों में गर्भाशय तथा डिम्ब ग्रन्थियाँ, आदि विशेष होते हैं।

उदर के दो भाग हैं, एक अगला दूसरा पिछला। सामने की ओर अगल-बगल अर्थात् पार्श्व की दीवारें, मांस, चर्बी और त्वचा से बनी हुई हैं। पीछे के अंश में बीच में रीढ़ और अगल-बगल मोटी-मोटी मांस-पेशियाँ होती हैं। उदर के प्रत्येक स्थान में एक पतली झिल्ली रहती है। यह उदरकला (Peritonium) कहलाती है।

अब हम यह बताते हैं कि अन्न किस तरह उदर पथ में आता है। पाकस्थली में कोई भी पदार्थ मुँह के द्वारा ही जाता है। अतएव पहले मुखगह्वर (Mouth) की बनावट समझनी चाहिये।

मुखगह्वर

मुख गह्वर का आकार कुछ अण्डे जैसा होता है। यह श्लैष्मिक झिल्ली से घिरा रहता है। मुंह खोलने पर दाँत और तन्तु का अगला भाग (Palate) दिखाई देता है। यह अगला भाग कठिन है। इसे कठिन तालु (Hard palate) कहते हैं और इसका पिछला भाग कोमल है, इसे कोमल तालु (Soft Palate) कहते हैं। इसके पीछे जो एक लटका सा भाग दिखाई देता है वह अलिजिह्वा या शुंडिका (Uvula) है।

यह तो ऊपर का भाग हुआ। अब नीचे की ओर दांत, और इस निम्न दन्तपंक्ति के पीछे जीभ या जिह्वा (tounge) रहती है। जीभ की जड़ में दोनों ओर दाहिने और बाएँ दो ग्रन्थियां रहती हैं। ये तालु की ग्रन्थियां कहलाती हैं। इन दोनों ग्रन्थियों के बीच का महरावदार भाग कंठ है। कंठ के ऊपरी भाग में तालु के ऊपर नाक के पिछले छिद्र हैं। ये नथने कहलाते हैं। जीभ के पीछे स्वरयन्त्र (Larynx) हैं। इसके बाद ही अन्नमार्ग या अन्नवहानाली आती है। जिसका जिक्र पहले आ चुका है।

मुंह के भीतरी सुराख को अंगरंजी में (Fauces) कहते हैं। और बाहरी सुराख के दोनों ओर ऊपर नीचे ओंठ रहते हैं। ये दोनों ही पेशियों से बने हैं। ये बाहर की ओर त्वचा से और भीतर की ओर श्लैष्मिक झिल्ली से आच्छादित हैं।

अन्नवहानाली या अन्नमार्ग

जिस नली द्वारा खाद्य-पदार्थ मुंह से पाकस्थली और आंतों में होता हुआ निम्न भाग तक चला जाता है, उसे अन्नमार्ग कहते हैं। यह बहुत लम्बी नली है। इस नली का आरम्भ गलाग्र या गल कोष (Pharynx) से होता है। ठीक इसके नीचे गल-नाली (aesophagus

ro gullet) है। इसे अन्न-प्रणाली कहते हैं। यह अनुमान १० इञ्च के लम्बी होती है। इसके तीन स्तर (Coats) हैं। (१) वहिःस्तर (Outer Coat)—यह अनेच्छिक मांस-पेशियों से बना है। ये तन्तु बहुत से ऊपर से नीचे की ओर लटके हुए हैं और कितने ही गेंडुरी के आकार के हैं। ये ही गोलाकार मांसपेशियाँ एक के बाद एक संकुचित होकर भोज्य पदार्थ को पाकस्थली में पहुंचा देती हैं। (२) मध्यस्तर (Middle coat)—यह पहले वहिःस्तर और आखिरी अन्तस्तर के बीच में है। तीसरा अर्थात् अन्तस्तर (Inner Coat) श्लैष्मिक ग्रन्थियों द्वारा बना हुआ है। इन सब ग्रन्थियों द्वारा गले की नाली हमेशा तर रहती है। इसी से बिना किसी रुकावट के खाद्य-पदार्थ पाकस्थली में जा पहुंचता है। यह नली वक्ष-उदर-मध्यस्थ-पेशी (Diaphragm) के छिद्र से होकर उदर में पहुंच जाती है और आमाशय से जा मिलती हैं।

इस तरह अन्न पाकस्थली में तो जा पहुंचता है पर पाकस्थली में और अन्नमार्ग में जाने के पहले कितनी ही ऐसी क्रियाएं हो जाती हैं जिन से पाकस्थली उन पदार्थों को सरलता से परिपाक कर सकती है।

ये प्रक्रियाएं नीचे लिखे ढंग से होती हैं। जिन यन्त्रों की सहायता से यह क्रिया होती है वे पाचन के सहकारी यन्त्र (Accessary Digestive organs) कहलाते हैं।

(१) इनमें प्रधान दांत हैं। कोई पदार्थ मुंह में जाते ही जीभ हिल-हिलकर उसे मुँह में इधर से उधर करने लगती है और दांत उसे चबा चबाकर पीसने लगते हैं।

अधिक गर्म और अधिक ठण्डी दांतों को ख़राब करती हैं। बहुत गर्म चीजों के सेवन के पश्चात् बहुत ठण्डी चीज़ का सेवन दन्तवेष्ट को हानि पहुंचाता है। दांतों को साफ करने के लिये बहुत सख्त चीजें न मलनी चाहिये जैसे रेत, कोयला मला जाये तो मैदा की तरह बारीक पिसा हो।

भोजन कर के दांतों को हमेशा साफ कर लेना चाहिये। ऐसा न करने से दांतों के बीच में भोजन के अंश फँसे रह जाते हैं, जो सड़ने लगते हैं। इन चीज़ों के सड़ने से न केवल मुख में दुर्गन्ध ही आती है, प्रत्युत दांत भी ख़राब होते हैं और स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। यूरोप-निवासी भोजन के पश्चात् कुल्ला नहीं करते, कुछ भारत-वासी भी उनकी देखा-देखी कुल्ला करने को फैशन के ख़िलाफ समझने लगे हैं। हमारी राय में तो यह एक महा मलिन आदत है जिसको कभी भी ग्रहण न करना चाहिये। यह बात सब जानते और मानते हैं, कि यूरोप-

निवासियों के दांत बहुत ख़राब होते हैं और जल्दी उखड़ जाते हैं।

भारतवर्ष में तो सदा से यह प्रथा चली आती है, कि सुबह उठकर पाखाना हो आने के बाद पहिले कुल्ला-दातून कर लेते थे तब कोई काम करते थे। दांतों की सफाई के लिये यह परमावश्यक है कि दातून या मंजन ब्रश रोजाना करता रहे। जो बच्चे मिठाई अधिक खाते हैं और दांत साफ नहीं करते उन के दांतों में कीड़े लग जाते हैं, ऐसे बच्चों के लिये मुनासिब है, कि जब वे मीठा खायें तभी मुँह को साफ कर लिया करें। जो लोग अपने दांतो पर विशेष ध्यान रखते हैं, वे प्रत्येक बार खाना खाने के बाद और सोने जाते वक्त भी दांत साफ कर लेते हैं।

लाला ग्रन्थियाँ

पाचन क्रिया की दूसरी सहायका ये लाला ग्रन्थियां (Salivary glands) हैं।

ये छः हैं। तीन दाहिनी और तीन बायीं ओर। इनमें एक कान के आगे कुछ नीचे हटकर है। इसे कर्णाग्रवर्ती (Parotid) ग्रन्थि कहते हैं। दूसरी जीभ के नीचे है, इसे जिह्वाधोवर्ती (Sub Lingual Salivary Gland) लाला ग्रन्थि कहते हैं, और तीसरी ठुड्डी के नीचे रहती है। इसे हन्वोधवर्ती (Submaxillary) लाला ग्रन्थि कहते हैं।

इन ग्रन्थियों के बने हुए रस को लार कहते हैं। यह भोजन में मिलकर उसे मुलायम और पाचनशील बना देती है। इसी समय जीभ उस खाद्य पदार्थ की एक गोलीसी बनाकर उसे पीछे की ओर ढकेलती है और वह पदार्थ अन्न-नाली में चला जाता है।

यकृत

पाचन क्रिया का तीसरा सहायक यकृत है।

यकृत एक ऐसा यन्त्र है, जो पित्त उत्पन्न करता है और पाचन कार्य में बहुत अधिक सहायता पहुंचाता है।

शरीर की समस्त ग्रन्थियों में यकृत एक सब से बृहत ग्रन्थि है। यह बक्ष-उदर-मध्यस्थ पेशी (Diaphragm) के नीचे और उदरगह्वर में दाहिनी ओर ऊपर के भाग में है। इसी यकृत के ऊपर वक्ष में दाहिना फेफड़ा रहता है। इसका वज़न जवानों में अनुमान पौने दो सेर होता है। एक बात और भी जान रखनी चाहिये, यकृत सबका-सब दाहिनी पसलियों के पीछे छिपा रहता है। इसके ऊपर एक उदरक-कला (Peritoneum) चढ़ी रहती है। यकृत पाँच पहलू की चीज़ के समान है जिसमें और चार भाग तो उभरे हुए होते हैं, पर पाँचवा—अर्थात् नीचे का भाग ख़ासा चौड़ा और बड़ा होता है। इसी नीचेवाले भाग में पित्त(Gall Bladder) रहता है।

पित्ताशय

यकृत से एक प्रकार की पीलापन लिये हुए हरे रङ्ग का रस निकलता है। इससे पाचन क्रिया होती है। इसका नाम पित्त (Bile) है। यह पित्त मांस और सौत्रिक तन्तु से बनी हुई जिस थैली में रहता है, उसे पित्तकोष या पित्ताशय कहते हैं। रोज़ अन्दाज तीन पाव पित्त, पित्त-कोष से निकल कर पाकाशय में पहुंचाता है और खाद्य पदार्थ के पाचन में सहायता पहुंचाता है।

क्लोम-ग्रन्थि

यह क्लोम-ग्रन्थि पाचन क्रिया की चतुर्थ सहायका है।

यह क्लोम-ग्रन्थि यकृत की अपेक्षा छोटी होती है और उदर की पिछली दीवार से सम्मिलित रहती है। इसमें से एक तरह का सादा क्षार (Pancreatic Juice) निकला करता है। क्लोम-ग्रन्थि में कितनी ही छोटी-छोटी नलियाँ हैं। इनके द्वारा क्लोम-रस पित्त के साथ साथ पक्वाशय में जा पहुंचता है।

इस क्लोम-ग्रन्थि के पास ही पक्वाशय, प्लीहा, वृहत अंत्र और आमाशय रहते हैं।

पाकस्थली या आमाशय

हम ऊपर कह चुके हैं, कि अन्न-मार्ग के पथ से भोजन किया हुआ पदार्थ पाकस्थली में जा पहुंचता है। इस

पाकस्थली का ही दूसरा नाम आमाशय है । यह बाएँ ओर के उदर-गह्वर के ऊपरी भाग में और वक्ष-उदर-मध्यस्थ पेशी के ठीक नीचे की ओर है । आप लोगों ने मशक देखी होगी । यह पाकस्थली भी मशक ही की तरह एक वक्राकार, दो मुंह की थैली है । यह बारह-तेरह इञ्च लम्बी और लगभग चार इञ्च चौड़ी होती है । इसके दो मुंह या छिद्रों में से एक बाईं ओर हृदय के पास होता है। जब हम लोग खाते हैं तो अन्नप्रंणाली के पथ से अन्न इस छिद्र द्वारा पाकस्थली में पहुंचता है। इस छिद्र को हृदय-द्वार (Cardiac-Orifice) कहते हैं और दूसरा छिद्र दाहिनी ओर होता है, जिसकी राह से भोजन आँतों में जा पहुंचता है, इसे पक्वाशयिक-द्वार (Pylorus) कहते हैं ।

पाकस्थली में चार स्तर होते हैं । (१) सबसे ऊपरवाला स्तर एक आवरक (Peritoneum or Serous Coat) जैसा रहता है, इसके बाद मांस पेशियों का एक आवरण (Mascular Coat) होता है, तीसरा स्तर (Submucous or Conective Coat), रक्तवहा नाड़ी (Blood Vessels) और पाचक रस उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थियों (Gastric or Peptic Glands) से परिपूर्ण रहता है और चौथा स्तर (Mucous Coat) एक छत्ते जैसा रहता है, यह श्लैष्मिक झिल्ली पाचक रस

(Gastric Juice) निकालने के लिये बहुत से छोटे छोटे छेदों से परिपूर्ण है।

पाकस्थली परिपाक साधन का प्रधान यन्त्र है। हृदय-द्वार से जब खाद्य पास्थली में आता है, तो उसके आते ही मांस पेसियां सिकुड़ने लगती हैं। इससे वह खाद्य पाकस्थली में बायें से दाहिने और दाहिने से बायें—इस तरह हिल हिलाकर मथ जाता है। साथ ही चौथे स्तर के मुंह से पाचक रस (Gastric Juice) निकल निकल कर मिलता जाता है। इस तरह समूचा खाद्य पदार्थ पिसकर पतला हो जाता है। उसका कुछ अंश पानी जसा हो जाता है और कुछ मांड़ जैसा आकार (Chyme) धारण करता है। इसी पतले अंश को पाकस्थली के द्वितीय स्तर की सूक्ष्म सूक्ष्म रक्तवाहा नालियाँ चूसकर रक्त में परिणित करती हैं और समस्त शरीर में वितरण कर देती हैं और मांड की तरह (Chyme) वाले अंश को पक्वाशयिक-द्वार (Pylorus) द्वारा आँत में भेज देती हैं।

इस पक्वाशयिक-द्वार पर एक कड़ी मांसपेशी से बना द्वार (Sphincler) रहता है; यह द्वार बन्द रहता है। पर जब भोजन का आमाशय से आँत में जाने का समय होता है तभी खुलता है। अतएव यदि खाया हुआ पदार्थ मुख में अच्छी तरह चबाया और लार से मिलाया नहीं जाता तो दांतों का काम पाकस्थली को करना पड़ता

है। इस तरह ज्यादा काम करने से पाकस्थली कमजोर पड़ जाती है। अतः प्रत्येक ग्रास को कम से कम ३२ बार चबाना चाहिये।

आंत या अन्त्र

अन्न प्रणाली के निम्न भाग का नाम आंत या अँतड़ी है। यह पाकस्थली के नीचे है। यह एक टेढ़ा-मेंढ़ा बहुत लम्बा नल है। इस टेढ़े-मेंढ़े नल ने इधर उधर घूम कर उदर-गह्वर का बहुत सा स्थान घेर लिया है। जवान आदमियों की आँत प्रायः अट्ठारह हाथ लम्बी होती है।

आँत के दो भाग हैं। (१) क्षुद्र अंत्र या छोटी आँत (Small-Intestine), और दूसरी बृहत अंत्र (Large Intestine)।

क्षुद्र अंत

यह छोटी आँत अन्दाजन २२ फुट लम्बी होती है। इसका व्यास लगभग सवा इञ्च के रहता है। यह सांप की भांति गडुली मारे पेट में पड़ी रहती है। जहाँ से यह छोटी आँत आरम्भ होती है, वह भाग कुछ गोलाकार बारह अँगुल का रहता है। यह पक्काशय (Duodenum) कहलाता है। पाकस्थली की भाँति इसमें भी चार आवरण होते हैं। इस छोटी आंत में भी एक प्रकार का रस बना करता है। इसे क्षुद्रांतीय

रस (Digestive Juice of Small Intestine) कहते हैं। इस छोटी आंत की दीवार में मांस रहता है, उसमें हमेशा गति होती रहती है। यह गति इसके संकोचन और प्रसारण से हुआ करती है। इस गति के कारण रस भोजन के पदार्थ में अच्छी तरह मिल जाता है। पचने के समय इस आंत में पित्त कोष के एक नल द्वारा पित्त-रस (Bile) और क्लोम-ग्रन्थि (Pancreas) द्वारा, एक दूसरे नल की सहायता से क्लोम-रस (Pancreatic Juice) आकर भोज्य पदार्थ के साथ मिल जाता है। इसी में क्षुद्रांत्र रस भी सम्मिलित हो जाता है। खाए हुए पदार्थ का जीर्णावशेष पाकस्थली से आंत में आकर, इन तीनो रसों से मिल कर, फिर पिसता है। इस तरह खाद्य का सारांश जीर्ण होकर रक्त में परिणित होता है और असार अंश इस सांप की गेंडुली की तरह की नली से समूचे आंत में घूम कर मल (Stool) के रूप में बड़ी आंत में चला जाता है।

बृहत् अंत्र

यह अन्दाज़न पांच फुट लम्बा और छोटी आंत से ज्यादे चौड़ा नल होता है। यह क्षुद्र अंत्र से बहुत मोटा होता है। क्षुद्र अन्त्र और बृहद अन्त्र जहाँ पर मिले हैं, उस स्थान पर श्लैष्मिक झिल्ली निर्मित एक कपाट सा रहता है, इसके कारण बड़ी

आंत में आया हुआ पदार्थ फिर लौट कर छोटी आंत में नहीं जा सकता। छोटी आंत को बड़ी आंत प्रायः घेरे हुए हैं। यह उदर-गह्वर के दाहिनी ओर के नीचे से नल के रूप में अन्त का भाग स्पर्श करती हुई यकृत और पाक-स्थली के नीचे होकर उदर गह्वर-की बांई ओर घूमती हुई गुह्यद्वार या मलद्वार तक उतर गयी है।

वृहत् अन्त्र में ही गतियां हुआ करती हैं, पर क्षुद्र अन्त्र की अपेक्षा कमजोर। इसी गति के द्वारा भोजन के पदार्थों का शेष भाग क्षुद्रांत्र से वृहत् अन्त्र में आकर वस्ति गह्वर की ओर जाता है। ध्यान रखना चाहिये, कि इस समय तक भोज्य पदार्थों का अंश पतले या तरल रूप में है, पर वह वस्तिगह्वर की ओर ज्यों-ज्यों अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों उसका जलीय अंश कम होता जाता है और अन्त में वह गाढ़ा होकर मलाशय में और मलाशय से गुदा में और इसके बाद मलद्वार से बाहर निकल जाता है।

मल

यद्यपि पाकस्थली तथा आंतों में पाचन क्रिया का सारा काम होता है, तथापि समस्त भोज्य-पदार्थ एकदम नहीं पच जाता। कुछ न कुछ भाग बिना पचा रह ही जाता है। मल में खासकर जब भोजन का अपक्व अंश, भोजन का कुछ ऐसा भाग जो पच ही नहीं सकता,

जैसे फलों के छिलके, गुठलियां, रेशे आदि रहते हैं। आँतों में अन्न सड़ने के कारण उत्पन्न हुए अम्ल, बैक्टीरिया नामक सूक्ष्म जन्तु तथा पचानेवाले रसों का कुछ भाग रहता है; ये ही बैक्टीरिया नामक जन्तु कई प्रकार के हानिकारक पदार्थ इण्डोल, स्कटोल आदि बनाते हैं। एक तो इनकी वजह से मल में बदबू होती है और दूसरे आँतों में सड़ने के कारण बदबू पैदा हो जाती है।

प्लीहा

उदर के बाएँ भाग में नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं पसलियों के बीच में एक ४-५ इञ्च लम्बी ग्रन्थि रहती है। इसे ही प्लीहा (Spleen) कहते हैं। इसके और बाएँ फेफड़े के बीच में वक्ष-उदर-मध्यस्थ पेशी का स्थान है। इसका रंग बैगनी होता है और वजन अन्दाजन ५ छटांक के ऊपर रहता है। इसके द्वारा भोजन के पचाव में बहुत थोड़ी सहायता मिलने के साथ ही साथ एक कार्य यह भी होता है कि अपना काम समाप्त कर चुकने वाले रक्त के लाल कणों को यह नष्ट कर देती है और कुछ श्वेतकणों को बनाती जाती है।

पोषण-क्रिया

आजकल के विज्ञान सम्मानित पोषण तत्वों का संक्षिप्त विवरण एवं पोषण संस्थान के विषय में संक्षेप में

हम बता चुके। अब यह समझना चाहिये, कि भोजन तथा शरीर में क्या सम्बन्ध है, तथा भोजन में ऐसे क्या पदार्थ हैं, जिससे शरीर में पुष्टि आती है।

संक्षेप में यह समझ लेना चाहिये, कि शरीर में मुख्यतः पांच पदार्थ हैं, (१) प्रोटीन (२) बसा (३) कार्बोज (४) नमक और (५) जल।

(क) अब कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, गन्धक और नाइट्रोजन—ये पांच मौलिक पदार्थ का सम्मिलत प्रोटीन (Protein) कहलाता है।

(ख) बसा-चर्बी है। इसमें कार्बन, हाइडोजन और आक्सिजन सम्मिलित हैं।

(ग) कार्बोज—इसमें भी कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सिजन है। इसमें शक्कर की विशेषता है।

(घ) लवण-–इसमें सोडियम, पोटैशियम, मैग्नेशियम इत्यादि खनिज पदार्थ सम्मिलित हैं।

(ङ) जल—शरीर में प्रोटीन, बसा और कार्बोज द्वारा जल उत्पन्न हुआ है। ये पाँचों ही कितने ही मौलिकों के सम्मिलन से बने हैं।

अब खाद्य पदार्थों में भी, किसी में कम, किसी में अधिक, ये पांचों मौलिक पाये जाते हैं। दाल, दूध, अरा-रूट, अण्डा आदि में प्रोटीन; मक्खन, घी, मलाई, बादाम, पिस्ता, तैल आदि में बसा; चावल, गेहूं आलू, शहद, मीठे

यक्ष्मा

अन्न मार्ग ।

फल, आरारूट आदि में कार्बोज; हरी शाक सब्जी, दूध, अन्न, अण्डे की जरदी आदि में लवण और सब में जलीय अंश मिला रहता है।

इस तरह सजीव शरीर के उपादान और खाद्यों के मूल उपादान एक समान ही हैं।

शरीर के भिन्न-भिन्न अंग और अवयवों तथा शरीर-रचना के साधनों के लिये इन चीजों की आवश्यकता रहती है। ये पदार्थ उन्हें खाद्यों से ही प्राप्त होते हैं। अतएव, उचित भोजन से शरीर की सेलें बढ़ती हैं। सेलों के बढ़ने से शरीर की पुष्टि होती है। प्रोटीन सेलों को बढ़ाने और पुष्ट करने के लिये उपयोगी हैं, मांस भी प्रोटीन से ही बनता है। बसा और कार्बोज से शरीर में ताकत पैदा होती है, लवण अस्थियों को मजबूत करता है और जल तो आधार ही है। इसलिये, प्रत्येक मनुष्य को भोजन शुद्धता पूर्वक और नियमित भाव से शरीर के अनुसार भूख लगने पर करना चाहिये।

अन्न की क्रिया

पेट में अन्न साधारणतः ४ घंटे रहता है, इतने समय में उस पर आमाशय के रस की समस्त क्रिया हो जाती है। यह उसी अवस्था में जब अन्न मुँह में खूब चबाया हुआ रहता है। यदि ऐसा न हो, और बिना चबाया निगला हुआ अन्न पाकस्थली में जा पड़े तो बहुत देर उसके

पाचन में लगती है, परन्तु दूध का पाचन कुछ विचित्र ढङ्ग से होता है। पाकस्थली से जो रस निकलता है, उसके प्रभाव से दूध जम कर दही हो जाता है और इस प्रक्रिया के बाद पाचन आरम्भ होता है।

ऊपर हम लिख आये हैं, कि अन्न पेट में चार घण्टे रहता है। अतएव इसके बाद भोजन-रस बन कर चार पांच घण्टे तक छोटी आंतड़ियों में और दो घण्टे तक बड़ी अंतड़ी में रहने के बाद मलाशय की ओर जाता है। अतएव इस बात पर ध्यान रख कर भोजन करना चाहिये।

अन्न का आत्मीकरण

यहां तक तो अन्न के पाचन के सम्बन्ध में—पक्वीकरण के सम्बन्ध में हम संक्षेप में बता चुके। अब वह रक्त को पौष्टिक पदार्थ क्योंकर देता है—अर्थात् आत्मीकरण के सम्बन्ध में बताते हैं।

भोजन में पौष्टिक पदार्थ रहते हैं। ये पदार्थ पहले पचते हैं—यह एक क्रिया हुई—इसी का नाम पक्वीकरण है। अब रक्त में उन पौष्टिक अंशों का पहुंचना दूसरी क्रिया है। रोग आदि के कारण पौष्टिक अंश रक्त को मिले बिना ही अन्न मलाशय में आ जाता है और शरीर की पुष्टि नहीं होती अर्थात् आत्मीकरण की क्रिया होती ही नहीं है।

परन्तु जो निरोग हैं, उनका अन्न आमाशायिक रस में मिल कर जब आंतों में पहुंचने लगता है, उस समय से आत्मीकरण का कार्य आरम्भ हो जाता है। यह इस तरह कि अँतड़ियों पर जो श्लैष्मिक कला चढ़ी रहती है, उसमें से रोएँ जैसे रेशे (ग्राहक तन्तु) निकले रहते हैं, ये ही अन्न के रस से पौष्टिक पदार्थों को खींच कर रक्त में पहुंचाते हैं और जो अनावश्यक पदार्थ हैं, उन्हें वहीं छोड़ देते हैं। यह अनावश्यक पदार्थ मलद्वार से निकल जाते हैं। अब यह देखिये, कि किस पदार्थ का आत्मीकरण कहां होता है।

प्रोटीन का आत्मीकरण पाकस्थली और छोटी अँतड़ियों में ;

कार्बोज का—मुँह और पाकस्थली तथा अन्त में यकृत

चर्बी या बसा का–छोटी आंतों में;

लवण—मुँह, पाकस्थली तथा छोटी अँतड़ियों में ;

जल का–छोटी अँतड़ियों में, तथा पाकस्थली में और विशेष भाग बड़ी अँतड़ियों में।

यह रक्त जो अन्न से पौष्टिक पदार्थ ग्रहण करता है, अशुद्ध रक्त रहता है। यह शुद्ध तब होता है, जब दाहिने ग्राहक कोष्ट से फुफ्फुस में होता हुआ बायें क्षेपक कोष्ट में आता है। इस जगह से सारे शरीर में छोटी छोटी रक्त नलियों द्वारा फैल जाता है तथा समस्त शरीर को पौष्टिक पदार्थ प्रदान करता है।

✤ ✤

६

लाक्षणिक चिकित्सा

[इस अध्याय में क्षयरोग के जो ग्यारह लक्षण होते हैं उनका समावेश किया गया है। इन लक्षणों में किसी रोगी के कोई लक्षण प्रवल होता है, किसी के कोई लक्षण न्यून होता है। साथ ही लाक्षणिक-चिकित्सा का चिकित्सा-क्रम और अयुर्वेदी प्रयोगों का, जो कि यक्ष्मा में अचूक लाभकारी अनुभूत और सैकड़ों रोगियों पर अजमाये हुये हैं, वे भी दिये जाते हैं]

आयुर्वेद सिद्धान्तानुसार यक्ष्मा रोग तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। पहले भेद में तीन लक्षण होते हैं तथा (कासो ज्वरो रक्त पित्तं त्रिरूपे राज यक्ष्मणि) कास, ज्वर, रक्त, पित्त ये तीन लक्षण हैं। दूसरा छः लक्षणों वाला है (भक्त द्वेषो ज्वर श्वास कास शोणित दर्शनम्। स्वर भेदश्च जायेत षड् रूपं राज यक्ष्मणि) भोजन में अरुचि, ज्वर, श्वास, कास, रक्त का गिरना, स्वर भेद ये छः लक्षणों वाला दूसरा भेद है। तीसरे भेद में एकादश लक्षण होते हैं। (स्वर भेदो

अनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयो। ज्वरो दाहो अतिसारश्च पित्ता द्रक्त क्ष्य चागमः। शिरसः परिपूर्णत्वम भक्तच्छन्द एवच। कास कण्ठस्य चोदूध्वंसो विज्ञेयः कफ कोपतः।) त्रिदोषज राजयक्ष्मा में वायु का प्रकोप अधिक हो तो स्वरभंग, कंधों, और पसलियों में संकोच और पीड़ा, पित्त की अधिकता में ज्वर, दाह, पतली टट्टी, खांसी के साथ रुधिर का गिरना, कफ अधिक हो तो शिर में भारीपन, भोजन में अरुचि, खांसी, स्वरभंग ये एकादश लक्षण वाला है। (वास्तव में) यक्ष्मा रोग त्रिदोषज है।

दोषों की तारतम्यता के कारण लक्षणों की कमी वेशी हुआ करती है, अतएव यहां पर संक्षिप्त लाक्षणिक चिकित्सा दी जाती है जिससे चिकित्सक और रोगी लाभ उठा सकते हैं। यक्ष्मा में ज्वर प्रबल उपसर्ग है। इसी से रोग का श्री गणेश होता है। पहले इसीके लिये प्रयोग लिखे जाते हैं।

ज्वरसंहार, ज्वर विद्रावण, सुदर्शन चूर्ण, सितोपलादि चटनी, अमृतासत्व, चोसठ पहरी पिप्पल, पिप्पली प्रयोग, वसन्तमालती इन प्रयोगों में से किसी प्रयोग का सेवन करे।

(१) कास (खाँसी)

यक्ष्मा रोग में खांसी एक प्रबल लक्षण और उपसर्ग है, क्षय में प्रायः सुखी खांसी आया करती है। यक्ष्मा की खांसी के लिये गरम औषधियां व्यवहार में न लानी चाहिये। क्योंकि गरम औषधियों से खून आने का भय रहा करता है। तर गर्म दवायें ही अधिक लाभ करती हैं। स्निग्ध पदार्थ क्षतज कास में अच्छा लाभ करता है।

यहां पर छोटे छोटे प्रयोग दिये जाते हैं। इनसे खांसी कम होती है और कफ आसानी से निकलता है।

वलादि क्वाथ—खैरेटी, कन्टाई, मुनक्का, अडूसे की जड़, इन चारों औषधियों को ६ मासा लेकर पाव भर जल में औटावे जब छटाक भर शेष रहे तब ६ मासा शहद डालकर पान करे।

एलादि वटी—इलायची छोटी, तेजपत्ता, दालचीनी, मुनका, पिप्पल छोटी ६-६ मासा प्रत्येक, मिश्री, मुलहठी, खजूर, किशमिश प्रत्येक १-१ तोला शहद डालकर बेर के बराबर गोली बनावे और दिन रात में १०-५ बार मुंह में डालकर चूसता रहे।

मरिच्यादि वटी—बब्बूल का गोंद, मुलहठी का सत्व, काली मिरच, मिश्री इन का समान भाग लेकर पानी के संग गोली बना लेवे मुँह में डालकर चूसता रहे।

वासावलेह—बासकुसमाण्डावलेह, कुसमाण्डावलेह, शृङ्गाराभ्र :—

चन्द्रामृत—खैर सरादि बटी, शुस्ककासारी चूर्ण, व्योसादि बटी, खदिरादि बटी इन प्रयोगो मे सें किसी १ दवा का प्रयोग करे।

प्रतिश्याय (जुक़ाम)

इस रोग में अधिकांश रोगियों को जुक़ाम कई रूप से होता है। इसलिये प्रतिश्याय नाशक मुख्य मुख्य प्रयोग लिखते हैं।

बनप्सादि कषाय—गुलबनप्सा ४ मासा, गांजवां ६ मासा, मुलहटी ६ मासा, खुबाजी ६ मासा, उन्नाव दाना ५, खत्मी ५ मांसा, सपिस्ता दाना १५, मिश्री २ तोला इन को आधा सेर पानी में औटा कर ३ छटांक शेष रहे तब छानकर पान करे। किसी प्रकार की जुक़ाम हो शरदी से हो या गींम से हो या बार बार आती हो या हमेशा रहती हो और जिस को छींक अधिक आती हो उनके लिये यह अचूक लाभकारी है। यह लेखक का अनूभूत प्रयोग है।

(१) मिश्री २ तोला, कालि मिरच १५ दाने (२) अद्रक २ तोला, मिश्री १ तोला (३) मिश्री १ तोला, मुल-

हठी ६ मासा, कालि मिरच १० दाने (४) गेहूँ की भूसी २ तोला, मिश्री १ तोला, काली मिरच १० दाने (५) गुलबनप्सा ३ मासा, उन्नाव ४ दाना, मुनका ७, मुलहठी २ मा०, खतमी के बीज २ मासा इन प्रयोगों में से किसी प्रयोग को पाव भर पानी में औटावे जब आधा शेष रह जाये तब छानकर पीवे। खाँसी से कफ निकलने पर नम्बर २ लेवे; कण्ठ में खरास होने पर नं० ४; सुखी खाँसी आने पर नं० ३ और नं० ५ प्रयोग काम में लावे। यदि मस्तक में कफ भरा हो और आवाज भारी हो तो इस नस्य को सुघें नं० १ — बर्गतिब्बत, उस्तखदुस, गुलबनप्सा, इलायची के छिलके ये सब बराबर लेकर कपड़ा में छान-कर लेवे। नं० २—बनतुलसी, सहजने के बीज, वायविडंग, काली मिरच इन को बारीक पीसकर बहुत थोड़ी मात्रा में सूघें। माथे में दर्द हो तो केशर १ माशा, कपूर २ मा०, बदाम की मिंगी ३ मा०, मिश्री २ मासा इन को पानी में पीसकर २ तोले घृत डाल अग्निपर गर्म करे जब जल सुख जावे तब घी को छानकर उसकी मस्तक पर मालिश करें और नासिका द्वारा उपर चढ़ावे (२) लाल कनेर के पुष्प को घी में घोटकर मस्तक पर लेप करे (३) रेणुका, तगर, पाषाण भेद, मोथा, छोटी इलायची, अगर, देवदारु, बालछड़, एरण्ड की मिंगी इन सब को एकत्र लेकर जल में पीस कर लेप करे। यदि जुकाम हो दर्द हो गया हो तो

नम्बर १ प्रयोग का व्यवहार करे । (१) मुनक्का ६ मा०, मुलहठी ६ मा० कटाई की जड़ ६ मा० (२) गिलोय, कुटकी, नीम की छाल, पटोलपत्र, नागरमोथा, लाल चन्दन, शोंठ, इन्द्रयव इनको तीन तीन माशा लेकर इन का किसी मट्टी के बर्तन में पाव भर जल देके औटावे जब १ छटाक रह जावे तब उतार कर पिलावे। जिन मनुष्यों को जुकाम वार बार हो या बना रहे वे आयुर्वेद के प्रसिद्ध प्रयोग जाति फलादि चूर्ण, लवङ्गादि चूर्ण, च्यवनप्राश, त्रिफलादि लोह, द्राक्षासव, दशमूलासव, प्रवालपिष्टी, मुक्तापिष्टी आदि किसी प्रयोग का सेवन सदा करता रहे।

कफ के साथ खून गिरना

रक्तागमन—(खून गिरना) क्षयरोग में रक्त पित्त और उरक्षतादि रोगों में खांसी के साथ रक्त आता है। उससे रोगी निर्बल हो जाता है । रक्त को एक साथ बन्द करने का कोई उपाय नहीं करे। सहसा रक्त बन्द करने से भी हानि होती है। खून को रोकने के लिए निम्न लिखित प्रयोग का उपयोग करे :—

नं० १—बबूल की कोंपल, अनार के पत्ते, आँवला, धनियां, इनके तीन-तीन माशा लेकर रात को १ छटाँक जल में भिगो दे सवेरे मल छानकर मिश्री ६ माशा मिलाकर पीवे।

नं० २—लाख पीपल की दूध में औटा कर पीवे या पीसकर शहत में मिलाकर चाट लेवे।

नं० ३—कच्चे गुलर का स्वरस १ तो०, शहत माशा ३ मिलाकर चाट लेवे।

नं० ४—सितोपलादि चटनी २ मा०, नागकेशर २ मा०, दोनों को मिलाकर मक्खन या शहत से चाटे।

नं० ५—नेत्रवाला, कमल, धनियां, चन्दन, मुलहठी, गिलोय, खस, अडूसा इनका क्वाथ बनाकर पीवे।

नं० ६—ईख की पगोली, कमल की जड़, कमलकेशर, मोचरस, मुलहठी, पदमाख, बड़ की कोपल, मुनक्का, खजूर इनका काढ़ा बना कर पीवे।

नं० ७—मुलहठी और दुग्ध औटाकर मिश्री और शहद मिलाकर पीवे।

नं० ८—नेत्रवाला, खजूर, मुनक्का, मुलेठी, फालसा इन औषधियों के काढ़े में मिश्री मिला कर पीवे।

नं० ९—पोस्ता के दाने, बादाम की मिंगी इनको भिगो कर पीसकर मिश्री मिलाकर पीवे।

नं० १०—नासिका से खून गिरता हो तो दूब, अनार की कली, कपूर इनको पीसकर लेप करे या नासिका से सूंघे (२) शिरपर फिटकरी के पानी से भीगे हुए कपड़े की पट्टी को रखे।

इनके अतिरिक्त उशीरादि चूर्ण, उशीरासव, खंडकाद्यवलेह, दूर्वादि घृत, कूसमाण्डासव, लौह भस्म आदि प्रयोग भी अच्छे हैं।

(१) आयापान के स्वरस में १ तोला मिश्री डाल कर पीवे।

(२) खूनखराबा के चूर्ण को आयापान के स्वरस में १ रत्ती से ८ रत्ती तक व्यवहार करे।

पार्श्व और कन्धों का संकोच

जब फेफड़ों में खराबी हो जाती है या रक्तादि धातुओं के क्षय होने से धातु कुपित हो जाता है, तब कन्धे और पसवाड़ों में दर्द या खिचाव होता रहता है। किसी २ को वाम या दक्षिण पार्श्व में सोने में बड़ा दर्द मालूम होता है और खाँसी ज्यादा उठती है, कफ निकलता है, यह सभी फेफड़ों के कमजोर और बिगड़ने से होता है, इसकी चिकित्सा मुख्य यही है कि फेफड़ों को बलवान और उनसे कफ निकलने वाली तथा वायु शान्ति करने वाली औषधियां खाई और लगाई जावे।

मालिश—चन्दनादि, किरातादि, लाक्षादि, तैलों की सम्पूर्ण शरीर पर मालिश कराना फेफड़ों में मोम का तैल या रूमी मस्तगी को मीठे तैल में गरम कर के लगाना

अच्छा है, कफ निकालने के लिये अपामार्ग, तमाखू और अडूसे का क्षार समान भाग मिलाकर २ रत्ती शहद में मिलाकर चटावे। आवश्यकता पड़ने पर बालू और मोम मिलाकर पोटली बना के सेके। पुरातन घृत की मालिश करे। तीसी की पोटली का सेक करे। कपूर, अद्रक रस तो० ५ पुराना घृत तो० ५ पका कर इसकी मालिश करे।

कफ तर करने और निकालने के प्रयोग

गेहूं की भूसी पाव भर को आधा सेर पानी में भिगो दे घन्टा भर पीछे मल छानकर बादाम मा० ६, गोंद बबूल ६ मा०, मिश्री १ तो०, अलसी ६ मा० मिलाकर और जब आधा पानी रह जावे तब छान कर रख ले और कई दफे २ तोला पीता रहे।

अन्य प्रयोग—सोंफ, मुलेठी, कूठ, तगर इनको घृत में मिलाकर लेप करे तो शिर पसली और कन्धे का शूल दूर होता है। (अ) खरैटी, रास्ना, तिल, घृत, मुलेठी, नील-कमल (आ) गूगल, देवदारू, चन्दन, केशर, घृत (इ) क्षीर काकोली, खरैटी, विदारीकंद, सहजना, पुनर्नवा (ई) शतावरी, क्षीर काकोली, मुलेठी, घृत यह चारों लेप वहुत दोष युक्त शिर शूल, पार्श्व शूल, कन्धा शूल को नष्ट

करते हैं। ध्यान रखना चाहिये कि जैसा दोष हो वैसा ही दोष नष्ट करने वाला लेप करे। बात में बातघ्न, पित्त में पित्तघ्न और कफ में कफघ्न लेप करे।

हाथ पाँव की जलन

यक्ष्मा रोग में जब मन्द ज्वर बना रहता है और धातुओं की कमी हो निकलती है, तब हाथ पावों में जलन होती है। इसकी चिकित्सा धातुओं को बढ़ाना ही है। हाथ पावों में चन्दनादि तैल की मालिश करने, या धुले घृत में सैंधा नोन या कपूर मिलाकर मलने या कांसी की थाली से मालिश करने से दाह कम हो जाती है। सितोपलादि, लवंगादि, उशीरादि, एलादि चूर्णों को चाटने, मक्खन खाने तथा च्यवनप्राश्य, सेवतीपाक, धात्रीलोह आदि को दुग्ध के साथ खाने से भी बहुत लाभ होता है।

स्वर भेद

जब रोग बढ़ जाता है तब यक्ष्मा वाले की आवाज बैठ जाती है, मुश्किल से बोला जाता है। ऐसा स्वरभेद प्रायः नहीं जाता—कफ निकलने और वायु शान्त होने पर थोड़ा २ चैन पड़ता है। खैरसारादिवटी, एलादिवटी, द्राक्षारिष्ट, या सारस्वतारिष्ट का सेवन करना चाहिये। खिरेंटी और बिदारीकंद से सिद्ध किये हुये

घृत का नस्य लेना, तथा ब्राह्मी, संखाहूली का स्वरस १ तो० उसमें शहद माशे ३ घृत माशे १ स्वर्ण का बर्क १ मिलाकर चाटना विशेष उपयोगी है।

अतिसार

दुषित पित्त के बढ़ जाने से क्षय रोगी को दस्त पतला आ निकलता है, इससे रोगी बहुत जल्दी निर्बल हो जाता है। इस उपद्रव की ओर वैद्य तत्काल ध्यान दे। धान्य पञ्चक, कुटजावलेह, कुटजारिष्ट आदि औषधियों को सेवन करे। अतिसारोक्त औषधियों का यथा योग्य प्रयोग करे।

शास्त्रीय-प्रयोग

हम यक्ष्मा रोगी के लिये चुने हुये १०० प्रयोग देते हैं इनमें से सुदक्ष विद्वान् शास्त्रज्ञ वैद्य से प्रकृति दोषों के अनुसार तैयार करा के काम में लेवे। उपरोक्त प्रयोगों में बहुत से प्रयोग लेखक के सेंकड़ों रोगियों पर अजमाये हुये, अनुभूत और आयुर्वेद ग्रन्थों से चुन २ कर उद्धृत किये गये हैं।

त्रयोदशाङ्ग-कषाय

धनियां, पिप्पली, सोंठ तथा दशमूलोक्त औषधियों को उचित परिमाण में लेकर यथा विधि क्वाथ बनावे इस

क्वाथ के सेवन करने से राज यक्ष्मा के लक्षण स्वरूप पार्श्वशूल, ज्वर, श्वास, पीनस आदि विकार दूर हो जाते हैं।

अश्वगन्धादि योग

असगंध, गिलोय, शतावर, विल्वमूल छाल, श्योनाक छाल, गंभीरी छाल, पाटला छाल, अरणी छाल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, बलामूल (खरेटी की जड़) अडूसे की छाल, पुहकरमूल तथा अतीस इन सब औषधियों को मिलित २ तोला लेकर सोलह गुने पानी में पका कर चतुर्थांश शेष रहने पर उतार दे इसके बाद निर्मल वस्त्र द्वारा छान कर रख ले। इस क्वाथ के सेवन करने से क्षय का क्षय हो जाता है। इस क्वाथ के प्रयोग काल में दूध पिलाना चाहिये।

दश मूलादि क्वाथ

दशमूल, बलामूल, रास्ना, पुहकरमूल, देवदारू तथा सोंठ इन सब औषधियों को उपयुक्त परिमाण में लेकर यथाविधि क्वाथ बनावे इसके सेवन से पार्श्वशूल, अंशशूल शिरःशूल तथा कास आदि राजयक्ष्मा के विकार शान्त हो जाते हैं।

ककुमादि साधितं दुग्धम्

अर्जुन छाल, नागवला (गंगेरन) मूल, तथा कौंछ के बीज इन तीन औषधियों को उचित परिमाण में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना ले तदन्तर इस चूर्ण को दूध में पकादे इसके बाद शहद तथा घी को उचित मात्रा में डालकर चीनी के साथ मिलाकर प्रयोग करावे ।

नागवला योग

नागवला (गंगेरन) के मूल के चूर्ण को उपयुक्त मात्रा में घी तथा शहद के साथ मिलाकर सेवन कराने से क्षय का भी क्षय हो जाता है।

काकजंघा प्रयोग

काकजंघा के चूर्ण को केवल दूध के साथ पीने से भी क्षय निवृत हो जाता है।

कृष्णादिलेह

पिप्पली, किशमिश तथा चीनी इन तीन औषधियों के चूर्ण को शहद तथा तेल के साथ मिलाकर अथवा लेहन कराने से क्षय दूर हो जाता है।

नवनीत योग

चीनी तथा शहद के साथ मक्खन सेवन करने अथवा असम भागिक (जिनका परिमाण बराबर न हो) शहद

तथा घी के सेवन करने से भी राजयक्ष्मा निवृत हो जाता है। इनके प्रयोग में पथ्य के लिए दूध का विशेषतया प्रयोग करना चाहिये।

शृंग्यर्जुनादि चूर्ण

काकाड़ा शिंगी, अर्जुनछाल, असगन्ध, नागवला (गंगेरन) पुष्करमूल, हरड़, गिलोय तथा तालीस पत्र, काली मिर्च, सोंठ, पिप्पली, वंशलोचन, दालचीनी, छोटी इलायची, चीनी इन सब औषधियों को समान परि-माण में लेकर यथाविधि चूर्ण बनाले। इस चूर्ण को उपयुक्त मात्रा में शहद तथा घी के साथ मिलाकर सेवन करने से यक्ष्मा रोग तत्काल ही नष्ट हो जाता है। मात्रा १ मासे से दो मासे तक है।

ताप्यादिलौह

सुवर्णमाक्षिक भस्म, विशुद्ध शिलाजीत, वायविडंग तथा हरड़ ये सब औषधियाँ पृथक १ तोले तथा लौह भस्म ४ तोले इन सब औषधियों को लेकर यथाविधि चूर्ण बना ले। इस चूर्ण को उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से यक्ष्मा रोग शीघ्र नष्ट हो जाता है। मात्रा २ रत्ती अनुपान शहद तथा घी।

विन्ध्यवासि योग

सोंठ, काली मिरच, पिप्पली, शतावर, हरड़े बहेड़ा, आँवला, नागवला (गंगेरन) तथा वलामूल (खरेटी की जड़) इन सब औषधियों को समान परिमाण में लेकर यथाविधि चूर्ण बना ले तदनन्तर इसमें सब औषधियों के चूर्ण के समान परिमाण में लौह भस्म मिलाकर रख दे । इस चूर्ण को उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से उरःक्षत, कण्ठ-रोग, अतिदारुण राजयक्ष्मा, बाहुस्तम्भ तथा अर्दित विविध रोग नष्ट हो जाते हैं।

इस योग का नाम लोह सर्वस्व में वरादि लौह लिखा है। इसकी पूर्ण मात्रा २ रत्ती अनुपान शहद तथा घी।

रसेन्द्रगुटिका

दो तोले विशुद्ध पारद को लेकर जयन्ती तथा अद-रक के रस से तबतक घोटता रहे जब तक पारे का पिंडसा (गोलासा) न बन जाय। इसके बाद जलकर्णी (मूर्वा मूल) तथा काकमाची (मकोय) के रस से यथाविधि पृथक-पृथक सात-सात भावना दे तदन्तर भृङ्गराज (भांगरे के रस) से भावित आँवलासार गन्धक ८ तोले लेकर पूर्वोक्त पारे के साथ घोंटकर यथा विधि कज्जलिका बनावे। कज्जलि बनाने की रीति यह है कि शुद्ध पारे को

खरल में डालकर थोड़ासा गन्धक मिलाकर घोटता रहे जब तक कि वह भी काला न हो जाय जब पारा सर्वथा न रहे इसके बाद भी दो तीन दिन घोटता रहे तब श्लक्षण मुलायम कज्जलिका बन जावेगी। तदन्तर २ पल परिमित बकरी के दूध के साथ घोटकर मटर के प्रमाण की गोलियां बनाना उचित है। भोजन के बाद प्रति दिन १ गोली सेवन करावे इसके प्रयोग काल में दूध पथ्य दे। इसके प्रयोग करने से सर्व लक्षण संयुक्त क्षयरोग श्वास रक्तपित्त तथा अरोचक नष्ट हो जाता है। इस प्रयोग से सैकड़ों वैद्यों से असाध्य कह कर छोड़ा हुआ अम्लपित्त रोग नष्ट हो जाता है।

एलादि घृत

छोटी इलायची, अजमोद, आंवला, हरड़े, बहेड़ा, खदिर सार (कत्था) निम्बसार (नीम का गोंद) असनसार (पीलेशाल का गोंद) शालसार (राल) बायविडंग, शुद्धभिलावा चीने की जड़, सोंठ, काली मिरच, पीपल, नागरमोथा, सुराष्ट्रिका (सोरठी मिट्टी) इसके अभाव में फिटकरी, इन सब औषधियों को पृथक आठपल लेकर इन सबके परिमाण से सोलह गुने पानी में डाल कर क्वाथ बनावे। जब जल षोडशांश (सोलहवां भाग) रह जाय तब उतार कर छान ले। इस क्वाथ के साथ तथाविधि एक

एकसौ इकासी

प्रस्थ परिमित घी को पकावे। सिद्ध हो जाने पर ३० पल मिश्री तथा ६ पल वंशलोचन के चूर्ण को डालकर मिलादे। इसके बाद इसमें घी से दूना (अकृत्रिम तथा स्वच्छ) शहद भी मिलाकर रख दे, शहद डालकर मंथन दंड से इसे मथ कर मिला दे। इस घी को प्रति दिन एक एक पल परिमित मात्रा से सेवन करे। वर्तमान काल के पुरुषों के लिए इसकी उपयुक्त मात्रा ½ तोले से १ तोला तक है। इस घी को खाकर दूध अवश्य पीना चाहिए। यह मेधाजनक परम पवित्र नेत्र रोग नाशक तथा आयु-वर्धक है। इस प्रयोग से राजयक्ष्मा शूलपाण्डु रोग भग-न्दर दूर हो जाता है। इस औषध प्रयोग काल में किसी विशेष अहार-विहार का परित्याग नहीं करना पड़ता अर्थात् किसी भी अहार-विहार से परित्याग न करे। पाकार्थ— गव्य घृत ४ सेर क्वाथ द्रव्य उक्त एलादि द्रव्य मिलित ८ सेर जल ६४ सेर शेष क्वाथ १६ सेर।

सर्पिगुड़

पाकार्थ- घी १ आढ़क क्वाथार्थ— वलामूल (खरैटी की जड़) विदारीकंद, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, गोखरू, पुनर्नवा तथा क्षीरिसंज्ञक (गूलर-वरगद-पीपल-महुआ तथा पिलखन) पांच वृक्षों के छोटे कोमल पत्तों को पृथक २ एक २ पल परिमित लेकर एक द्रोण जल में पका-

कर चतुर्थांश शेष रहने पर उतार दे। यह क्वाथ १ आढ़क शतावरी का रस, १ आढ़क विदारीकंद का स्वरस, १ आढ़क कल्कार्थ, जीवक, ऋषभक काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, मुद्गपर्णी, जीवन्ती तथा मुलहठी ये सब औषधियां पृथक २ एक एक कर्ष इन औषधियों के साथ यथा विधि घृतपाक करे। सिद्ध हो जाने पर उतार कर निर्मल वस्त्र द्वारा छान कर रख ले। इसके बाद इसमें ३२ पल मिश्री, गोधूम का चूर्ण १ कुडव, सिंघाड़े का चूर्ण १ कुडव तथा शहद १ कुडव ८ पल परिमित डालकर मंथन दण्ड द्वारा मंथन करले। इसके बाद यह अधिक प्रक्षेप द्रव्यों के मिलाने से घी कठीन हो जाता है, इस लिए एक एक पल परिमित के गुड़ (अर्थात बटक) वना ले। इस औषध को खाकर पित्त में दूध, कफ में मद्य का पान करना चाहिये। इस औषध के सेवन करने से शोथ, कास, उरक्षत क्षय-श्रम, स्त्री-सहवास, तथा अधिक भार बहन जनित दुर्बलता, रक्त, निष्ठीवन ताप, पीनस, उरक्षत, पार्श्वशूल, स्वरभेद आदि रोग नष्ट होते हैं।

जीवनन्त्यादि घृत

गव्य घृत ४ सेर, जल १६ सेर, कल्क द्रव्य जीवन्ती, मुलहठी, किशमिश, इन्द्रजौ, कचूर, पुहकरमूल, छोटीकटेरी, गोखरू, वलामूल (खरेटी की जड़) नीला कमल, तामलकी

(भूमि आँवला), त्रायमणा, दुरालभा (धमासा) तथा पिप्पली ये सब औषधियाँ मिलित् १ सेर इन औषधियों के कल्क के साथ यथा बिधि घृत पाक करे सिद्ध हो जाने पर छानकर रख ले। यह घृत उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से बिविध व्याधि समूहात्मक राजयक्ष्मा के ग्यारह लक्षणों को नष्ट कर देता है। यह योग चरक का है। इसका नाम जीवन्त्यादि घृत है। इसकी मात्रा $\frac{१}{४}$ तोले से आधा तोला तक है।

पिप्पली घृत

घृत ४ सेर, जल १६ सेर, कल्क द्रव्य पिप्पली आध सेर, बकरी का दूध १६ सेर इनके साथ यथा विधि पाक करे। इस घृत को उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से कासक्रान्त क्षय रोगियों का अग्निमान्द्य दूर हो जाता है अथवा क्षय रोगियों की तथा कास के रोगियों की जठराग्नि की वृद्धि हो जाती है।

पाराशर घृत

गव्य घृत २ पात्र(अर्थात ८ प्रस्थ) क्वाथनीय औषध मुलहठी, वलामूल, गिलोय तथा स्वल्प पंचमूल, शालपर्णी, वृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू इन पांच औषधियों के मूलों को स्वल्प पंचमूल कहते हैं। ये सब

औषधियाँ मिलत १ तुला (अर्थात् सौ पल) क्वाथ पाकार्थ पानी २ शूर्प अर्थात् ६४ प्रस्थ शेष ८ प्रस्थ आवलों का स्वरस, ८ प्रस्थ ईख का रस, ८ प्रस्थ दूध, २ अर्मण (३२ प्रस्थ) कल्क द्रव्य जीवनीय गणोक्त औषधियाँ मिलित २ प्रस्थ इन औषधियों के साथ यथाविधि घृत पाक करे। सिद्ध हो जानेपर निर्मल वस्त्र द्वारा छानकर रखले। इसका नाम पाराशर घृत है, इसकी मात्रा $\frac{1}{4}$ तोले तक है। इस घृत को उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से ससैन्य कास पार्श्वशूल अतिसार आदि अपने उपद्रवों युक्त भी राजयक्ष्मा समूल नष्ट हो जाता है। यह योग वाग्भट का है।

निर्गुण्डी घृत

गव्य घृत ४ सेर मूल फल तथा पत्र संयुक्त सम्हालू का स्वरस ४ सेर पाकार्थ पानी १६ सेर इसके बाद यथा विधि घृत पाक करे सिद्ध हो जाने पर निर्मल वस्त्र द्वारा छानकर शुद्ध पात्र में रख दे। इस घृत को उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से क्षत क्षीण का रोगी देवताओं के समान नीरोग हो जाता है। मात्रा $\frac{1}{2}$ तोला।

बलादि घृत

गव्य घृत ४ सेर गायका दूध ६ सेर क्वाथनीय द्रव्य वलामूल, गोखरू, बड़ी कटेरी, (कलशी पृश्निपर्णी) नीम की

छाल, पितपापड़ा, धावनी छोटी, कटेरी, शालपर्णी, नागर-मोथा, त्रायमाण, दुरालभा (धमांसा) ये औषधियां मिलित ४ सेर क्वाथार्थ पानी ३२ सेर अवशिष्ट क्वाथ ८ सेर कल्क द्रव्य तामलकी (भूमि आंवला) कचूर, किस-मिश, पुहकरमूल, मेदा, आँवला ये सब औषधियां मिलित परिमाण में १ सेर इन औषधियों के उल्लिखित क्वाथ तथा कल्क आदि के साथ यथा विधि घृत पाक करे। सिद्ध हो जाने पर इसे निर्मल बस्त्र द्वारा छान कर रखले। इस घृत को उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से ज्वर क्षयकास शिरः शूल पार्श्वशूल आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। इसका नाम वलादि घृत है, इसकी मात्रा $\frac{1}{4}$ तोला से १ तोला तक है।

लाक्षादि चूर्ण

यदि वक्षस्थल में क्षत घाव होने का बोध हो जाय तो लाक्षाचूर्ण को उपयुक्त मात्रा में ४ रत्ती से ८ रत्ती तक अकृत्रिम तथा स्वच्छ शहद में मिलाकर दूध के साथ सेवन करे। इसके बाद इस औषध के जीर्ण हो जाने पर चीनी मिले हुए दूध के साथ भात खिलावे।

इक्ष्वालिकादि साधितं दुग्धम्

इक्ष्वालिका (ईख के सदृश औषधि विशेष अथवा काश तृण) पिसग्रन्थि (पद्मकंट) कमल की केशर तथा

लालचन्दन इन सब औषधियों को मिलित २ तोला लेकर १६ तोले दूध में ६४ तोले पानी डालकर यथा विधि पाक करे। जिस समय पानी सब जल जाय केवल दूध बचा रहे उस समय उतार दे। इस रीति से दूध वाले। इससे पुप्फुस-गत क्षत (घाव) दूर हो जाता है अर्थात् घाव जुड़ जाते हैं।

क्षत क्षय विविध योग

बलामूल (खैरेटी की जड़), अश्वगन्ध, गंभारी का फल, शतावर तथा पुनर्नवा इन सब औषधियों को अथवा पृथक २ तोले लेकर पूर्वोक्त क्षीरपाक की विधि से क्षीर-पाक करे। इसके सेवन करने से भी क्षय दूर हो जाता है।

बालान्ध घृतम्

गव्य घृत ४ सेर क्वाथनीय द्रव्य बलामूल, नागबला (गंगेरन) तथा अर्जुन छाल ये तीनो औषधियां (मिलित परिमाण में) ८ सेर क्वाथार्थ पानी ६४ सेर अवशिष्ट वस्त्र पूत क्वाथ १६ सेर कल्क द्रव्य मुलहठी १ सेर इन (पूर्वोक्त) औषधियों के साथ यथा विधि घृत पाक करे सिद्ध हो जाने पर निर्मल वस्त्र द्वारा छानकर रखले। इस घृत को उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से हृदय रोग, हृदयशूल, उरःक्षत, रक्तपित्त, कास, वातरक्त, प्रभृति

अति दारुण रोग नष्ट हो जाते हैं। इस घृत की मात्रा $\frac{1}{4}$ तोले से १ तोले तक है।

बलागर्भ घृत

गव्य घृत ४ सेर, क्याथनीय द्रव्य दशमूल मिलित ४ सेर, पाकार्थ जल ३२ सेर, अवशिष्ट काथ ८ सेर, क्वाथार्थ शतावरी रस ४ सेर, पाकार्थ जल १६ सेर, अवशिष्ट शतावरी क्वाथ ४ सेर, दूध ४ सेर, कल्क द्रव्य बलामूल (खरेटी की जड़) १ सेर इन औषधियों के साथ यथाविधि पाक करे। इस घृत को उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से विविध प्रकार के अघातों से उत्पन्न राजयक्ष्मा शूल उरक्षत क्षय तथा कास नष्ट हो जाता है। इसका नाम बलागर्भ घृत है। इस घृत की मात्रा $\frac{1}{4}$ तोले से $\frac{1}{2}$ तोला तक है।

नागवला घृत

गव्य घृत १६ सेर, क्वाथनीय द्रव्य नाग बलामूल (गंगेरन) १०० पल (१० सेर,) पाकार्थ जल २ द्रोण (६४ सेर) शेष क्वाथ आधा द्रोण (१६ सेर) गायका दूध १६ सेर कल्क द्रव्य अतिवला (कंघी) बलामूल (खरेटी की जड़) मुलहठी, पुनर्नवा, पुण्डरीककाष्ठ, काश्मर्यत्वक (गम्भारी के मूल की छाल) चिरौजीं, कौंछ के बीज, अश्वगन्ध, सिता (सफेद दूब, आंवला, सफेद कटेरी अथवा वच)

शतावर, मेदा, महामेदा, गोखरू मृणाल (उशीर-खश) बिस (कमला सूत्र) शालूक, नागरमोथा ये औष-धियाँ पृथक चार-चार तोले। इन औषधियों के क्वाथ तथा कल्क आदि के साथ यथाविधि घृतपाक करे। सिद्ध हो जाने पर निर्मल बस्त्र द्वारा छानकर रखले। इस घृत को उपयुक्त मात्रा में सेवन करने से रक्त पित्त उरःक्षत राज-यक्ष्मा दाद भ्रम तृष्णा आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। यह घृत अत्यन्त बलवर्धक है तथा देहपुष्टीकारक है। यह ओजवर्धक आयुस्कर तथा बली-पलीतनाशक बुढ़ापे के लक्षणो को दूर करने वाला है। इस घृत को लगातार ६ महीने तक नियम पूर्वक सेवन करने से बूढ़ा आदमी जवान हो जाता है। इसका नाम नागवलादि घृत है, यह योग अष्टाङ्ग हृदय सहिंता का है। इस घृत की मात्रा $\frac{1}{4}$ तोले से १ तोले तक है।

वासादि क्वाथ—अड़ूसा, सिरस की छाल, अस-गन्ध, पुनर्नवा की जड़, इनका काथ क्षयरोग में उस अवस्था में लाभ देता है जब कि खांसी, शरीर में दर्द और किसी स्थान में सूजन हो।

त्रयोदशांग क्वाथ—धनियां, पीपल, सोंठ, दश-मूल, इनका काथ पार्श्वशूल, श्वास, जुकाम और ज्वर को दूर करता है बात और कफ की अधिकता में देना चाहिये।

दशमूलादि क्वाथ—दशमूल, खैरेटी, रासना, पोहकरमूल, देवदारु, मोथा, इनका क्वाथ पार्श्व कन्धा, मस्तिष्क इन के शूल को और उरःक्षत खांसी श्वास को दूर करता है।

बलादि क्वाथ—खैरेटी, विदारीकंद, खम्भारी, सेवती के फूल, शतावर, पुनर्नवा की जड़ इन औषधियों को दूध में औटाकर छान कर और शहद मिलाकर पीने से क्षय शोषादि से दुर्बल रोगी का बल बढ़ता है तथा खांसी को नष्ट करता है।

द्वितीयबलादि क्वाथ—खरेटी, दोनों कटेरी की जड़, मुनक्का, अड़ूसे का पत्ता, इनके क्वाथ में शहद डाल कर और मिश्री डाल कर पीने से क्षय जन्य शुष्ककास दूर होता है।

मुक्तादि चूर्ण—मोती तोले १, अम्बर ३ माशे, सोने के वर्क १॥ माशे, वंसलोचन ६ माशे, छोटी इलायची

उपरोक्त क्वाथों की औषधियाँ समान भाग लेनी चाहिये। और १ मात्रा दो तोले की बनानी चाहिये। उसे आधासेर पानी में औटावे जब आधापाव रहे तब छानना चाहिये। मिश्री शहद जो प्रक्षेप में हैं उन्हें एक खुराक में चार २ माशे डालना चाहिये।

के बीज ३ माशे, पीपर के दाने ३ माशे। प्रथम मोतियों को गुलाब जल में खरलकर उसमें स्वर्ण और चांदी के वर्क खरल करले, पश्चात् सूखने पर अन्य औषधियों को दूसरे खरल में घोटकर मिलाले और ३ रत्ती चूर्ण को १ तोले मक्खन और ४ माशे शहत में मिला कर क्षय रोग की उस अवस्था में देवे जब कि ज्वर की मन्द उष्मा हो, रोगी निर्वल हो और कफ की अधिकता हो।

सितोपलादि चूर्ण—मिश्री १६ तोले, बंसलोचन ८ तोले, पीपर छोटी ४ तोले, छोटी इलायची के दाने २ तोले, दालचीनी १ तोले इन सब को कूट कर चूर्ण बना लेवे, इसमें से ¼ तोले चूर्ण को एक तोले मक्खन और ४ माशे शहत में मिलाकर क्षय रोग की उस अवस्था में दे जब कि शुष्क खांसी, दाह, पाद दाह, ज्वर अथवा अरुचि हो।

जातीफलादि चूर्ण—जायफल, वायविडंग, चित्रक की छाल, तगर, तिल, तालीसपत्र, चन्दन सफेद, सोंठ, लोंग, कालाजीरा, भीमसेनीकपूर, हरड़, आंवला, पीपल-छोटी, बंसलोचन, दालचीनी, तेजपात, इलायची छोटी, नागकेशर, ये सब औषधियां तीन २ तोले ले और भांग २८ तोले ले और सब के बराबर मिश्री मिला सब को कूट कपड़ छानकर चूर्ण बनावे। जब क्षयरोगी को दस्त

होते हों या भूख न लगती हो, अरुचि हो, खांसी हो उस अवस्था में २ माशे चूर्ण को ६-६ माशे शहत में मिलाकर चाटना चाहिये।

यवानी खांडव—अजमोद, अनारदाना, सोंठ, डांसरिया अमलवेंत, बेर खट्टे ये औषधियां चार २ माशे, काली मिर्च ढाई माशे, पीपर छोटी १० माशे, दालचीनी, काला नोंन, धनियां, जीरा सफेद, ये प्रत्येक दो-दो माशे और मिश्री ६४ माशे ले सब का चूर्ण करले। यह चूर्ण २ माशे जल के साथ क्षय में दे जब अरुचि हो।

लवंगादि चूर्ण—लौंग, ककोल मिर्च, खस, सफेद चन्दन, तगर, कमलगट्टा, काला जीरा, छोटी इलायची, काला अगर, नागकेशर, छोटी पीपल, सोंठ, वालछड़, नेत्रवाला, कपूर, जायफल, वंसलोचन ये सब औषधियां बराबर २ लेवे और सबसे आधी मिश्री मिलावे। यह चूर्ण १॥ माशे से २ माशे तक शहत के साथ दे। यह चूर्ण दाह, अरुचि एवं ज्वर को दूर करता है। वीर्य्य वर्द्धक और जठराग्नि प्रदीपक है।

द्राक्षादि चूर्ण—मुनक्का, खील, मिश्री, मुलहठी, खजूर, सारिवा, वंसलोचन, नेत्रवाला, आंमला, मोथा, चन्दन सफेद, वालछड़, कंकोल, जायफल, दालचीनी, तेजपात, इलायची चोटी, नागकेशर, पीपल छोटी, धनियाँ

ये सब औषधियां समान भागले और सब के बराबर मिश्री मिलावे। इसकी मात्रा २ माशे से ६ माशे तक है, अनुपान जल व दुग्ध के साथ। पित्त, पित्तदाह, मूर्च्छा, वमन, अरुचि, क्षय, ज्वर, रक्त पित्त, और रक्त विकार के लिये देना चाहिये।

कर्पूरादि चूर्ण—कर्पूर, दालचीनी, कंकोल, जायफल, तेजपात यह समान भाग लेवे, लौंग १, जटामांसी २, कालीमिर्च ३, पीपल ४, सोंठ ५ भाग ले और सब औषधियों के बराबर मिश्री मिला कपड़ छान कर चूर्ण बनावे। इसकी मात्रा १ माशे से ३ माशे तक अनुपान शहद व दूध के साथ। यह चूर्ण हृदय को हितकारी, क्षय, खांसी, प्यास और कंठ-रोग नाशक है।

रास्नादि चूर्ण—रास्ना, कपूर, तालीसपत्र, मजीठ, शिलाजीत, त्रिकुटा, त्रिफला, मोथा, वायबिड़ंग, चित्रक की छाल, ये औषधि समान भाग ले और लौहभस्म १४ भाग ले सब को कपड़छान कर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण की एक माशे मात्रा शहद माशे ४ और घी माशे ६ में मिला कर क्षय की उस अवस्था में दे जब कि शुष्क खांसी और रोगी बलहीन हो, यकृत, तिल्ली बढ़ गई हो, पेट में दर्द और अग्नि मन्द हो, कफ के साथ रक्त जाता हो।

उशीरादि चूर्ण—खस, तगर, सोंठ, कंकोल, चंदन दोनों, लोंग, पीपरा मूल, पीपल छोटी, इलायची छोटी, नाग केशर, मोथा, आंवला, कपूर, तवाखीर, तेजपात, काला अगर, ये समान भाग लेवे तथा इन सब का अष्ट-मांश मिश्री मिला चूर्ण करे। रक्त-पित्त-वात (खून की वमन) और हृदय का संताप—इनको नष्ट करता है। मात्रा २ माशे से ६ माशे तक। अनुपान जल व दूध।

तालीशादि चूर्ण—तालीसपत्र १, काली मिर्च २, सोंठ ३, पीपल छोटी ४, वंशलोचन ५, दालचीनी अर्द्ध भाग, इलायची छोटी अर्द्धभाग और मिश्री ३२ भाग ले चूर्ण बनावे। खांसी, श्वास, अरुचि, हृदय रोग, शोष, ज्वर, कफ़ नाशक और अग्निवर्धक है।

एलादि गुटिका—इलायची छोटी ६ माशे, तेज-पात ६ माशे, दालचीनी ६ माशे, मुनक्का और पीपल छोटी दो-दो तोले, मिश्री ४ तोले, मुलेठी ४ तोले, खजूर ४ तोले, किशमिश ४ तोले इनको पीस कर शहत में गोली झर-वेर के बराबर बनावे। इन गोलियों से उरःक्षत, शोष, ज्वर, शुष्क खांसी, तृषा, अरुचि, स्वरभंग ये सब नष्ट होते हैं।

सूर्य्यप्रभा गुटिका—दारूहल्दी, सोंठ, काली मिर्च, पीपल छोटी, वायविडंग, चित्रक की छाल, बच, हल्दी,

कंजा, गिलोइ, देवदारु, अतीस, निसोथ, कुटकी, धनियाँ, अजमायन, जवाखार, सुहागा, सेंधानमक, कालानमक, कचलवन, गजपीपल, चव्य, गिलोय, तालीसपत्र, पीपरा-मूल, पोहकर मूल, चिरायता, भारंगी, पदमाख, जीरा सफेद, जायफल, कुड़ा की छाल, दंती, मोथा, ये औष-धियां एक-एक तोला ले और त्रिफला २० तोला, शिला-जीत २० तोला, गूगुल ३२ तोले, लोहभस्म २८ तोले, स्वर्ण माक्षिकभस्म ८ तोला, मिश्री २० तोला, बंसलोचन, दालचीनी, तेजपात इलायची छोटी ये औषधियां चार-चार तोले ले, और सब का चूर्ण बना घी, शहद में पीस गोली झरवेर के बराबर बनावे। जिस रोगी को क्षय के साथ वीर्य्य विकार भी हो उसके लिये यह अतिलाभ-दायक है और खांसी-उरःक्षत-शोष-मंदाग्नि को दूर करती है।

च्यवनप्राशावलेह—शालपर्णी, प्रष्टपर्णी, कटेरी दोनों की जड़, गोखरू की जड़, बेल की जड़ की छाल, अग्निमंथ, श्योनाक, खम्भारी, पाठा, खैरेटी, मुग्दपर्णी, माषपर्णी, काकड़ासिंगी, भूमिआमला, मुनक्का, जीवन्ती, पोहकर मूल, अगर, हरड, गिलोय, जीवक, ऋषभक, ऋद्धि, कचूर, मोथा, पुनर्नवा की जड़, मेदा, इलायची छोटी, कमल-गट्टा, चन्दन सफेद, विदारीकंद, बांसे की जड़, काकोली, काकनासा ये प्रत्येक चार-चार तोला, आंबले ५०० नग,

एकसौ पंचानबे

जल १ द्रोण (१६ सेर) शेषजल एक आढ़क घृत २० तोला, तैल, सरसों का २० तोले, मिश्री २०० तोले, शहत २० तोले, वंसलोचन १६ तोला, पीपलछोटी ८ तोला, दालचीनी, इलायची छोटी, नागकेशर, ये सब ४ तोला लेवे। बनाने की विधि—

प्रथम शालपर्णी से काकनासा तक औषधियों को कूटकर आमले पानी के साथ एक गागर (मटका) में भर कर औटावे जब चोथाई शेष रहे तब आंमले निकाल अलग रक्खे और दवा में से पानी (क्वाथ) अलग निकाल लो। उन उबाले हुये आंमलों को मंथन कर और गुठली निकाल कपड़ा में छान लो, और घृत, तैल, डाल चीनी की कढ़ाई में आंमले के गूदे को भूनलो। फिर क्वाथ, जो आमले के साथ औषधियाँ औटाई गई थी, में मिश्री डाल चासनी करे जब चासनी हो जाय तब वंसलोचन से नागकेशर तक औषधियों को कूट कपड़ छान कर मिलादे तथा शहत और भूना आंमले का गूदा डाल अबलेह तैयार करे। यह अवलेह एक एक तोले दूध के साथ क्षय रोग की उस अवस्था में दे जब कि रोगी दुर्बल हो, बात पित्त की खांसी हो, दाह हो, वीर्य्य विकार हो, कफ के साथ रक्त जाता हो, कंठ का स्वर क्षीण हो गया हो,।

अमृतप्राशावलेह—गाय का दुग्ध, आंमलो, विदारीकंद ईख और क्षीर वृक्षों का रस एक २ सेर, घी एक सेर, मुलेठी, ईख, मुनक्का, दोनों चन्दन, खस, मिश्री, कमलगट्टा, महुआ के फूल, पदमाख, जबासे की जड़, खम्भारी, रोहिषतृण, ये सब औषधियां कल्कार्थ डेढ़ २ तोले लो, घृत पाक विधि से घी सिद्ध करलो, पीछे इन घी में आध सेर शहत और मिश्री ५ सेर तथा दालचीनी, इलायची छोटी, तेजपात, नागकेशर दो दो तोले को चूर्ण कर मिलालो। इसे अमृतप्राशावलेह कहते हैं।

एक तोले अवलेह दुग्ध के साथ खिलावे। इससे रक्त पित्त, क्षत क्षय, श्वास, खांसी, अरुचि, हिचकी, मूत्रकृच्छ्र और ज्वर दूर होते हैं और बलवर्धक है।

बृ० वासावलेह—बांसा ४०० तोले को एक एक द्रोण (१६ सेर) पानी में पकावे चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर छानले। पुनः इस जल में ४०० तोले मिश्री मिलाकर मन्द अग्नि से चासनी अवलेह की करले। और सोंठ, मिर्च काली, पीपरछोटी, इलायची, दालचीनी, तेजपात, कायफल, मोथा, कूट, जीरे दोनों, निशोथ, पीपरामूल, चव्य, कुटकी, आंवला, तालीसपत्र, धनियां वंसलोचन, ये सब औषधियां दो २ तोले ले चूर्ण कर मिलाले और शीतल होने पर ३२ तोला शहत मिलाकर

अवलेह तैयार करे। इस अवलेह को रोगी का बलाबल विचार १ तोले से २ तोले तक गरम (गुनगुने) जल के साथ क्षयरोगी को दे। यह अवलेह उस अवस्था में अति लाभ देता है, जब कि कफ खांसी की अधिकता हो, दस्त साफ न होता हो, और अग्नि मन्द हो।

बलादिघृत—खैरेटी, गोखरू, कटेरी की जड़, पृष्ठपर्णी, शालपर्णी, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, मोथा, त्रायमाण, जवासे की जड़, बड़ी कटेरी, हरड़, कचूर, मुनक्का, पोहकरमूल, मेदा, आंवला ये सब औषधियां दश २ तोले लेकर ८॥ सेर पानी में औटावे जब २ सेर रहे तब छान कर उसमें दूध गाय का २ सेर और घी १ सेर डाले और भूमि आंवला, कचूर, मुनक्का, पोहकरमूल, मेदा, आंमले साढ़े तीन तीन तोले ले कल्क बना घृत सिद्ध करे। इस घृत के सेवन से ज्वर, क्षय, कास सिर और पसवाड़े का दर्द दूर होता है।

जीवंत्यादि घृत—जीवन्ती, मुलेठी, मुनक्का, इन्द्रजौ, कचूर, पोहकरमूल, कटेरी की जड़, गोखरू, खैरेटी, नीलोफर, भूमिआंवला, त्रायमाण, जवासे की जड़, पीपल-छोटी ये सब औषधियां पांच २ तोला ले चार सेर जल में औटावे जब १ सेर रहे तब छानकर बकरी का दूध २ सेर, दही १ सेर, घी एक सेर मिलाकर पकावे। जब घृत-

मात्र शेष रहे तब छान कर रक्खे। यह घृत क्षय रोग के ११ उपद्रवों को दूर करता है तथा नस्य लेने से शिर रोग दूर करता है।

कोलाद्य घृत—बेर की लाख का रस १ सेर, घृत एक सेर, दूध आधसेर, और वायबिडंग, दारुहल्दी, दालचीनी, अखरोट, खजूरा, फालसे, मुनक्का, मुलेठी, पीपल छोटी, ये सब दो २ तोले ले कल्क बनाकर मिला पचावे जब घृत मात्र शेष रहे तब छान कर रक्खे। इससे खांसी, कफ के साथ रक्त का आना, स्वरभेद, श्वास, ज्वर नष्ट होते हैं।

गोक्षुरादि घृत—गोखरू, जवासा, शालपर्णी, पृष्ठपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, खैरेटी, पित्तपापड़ा, एक एक छटांक पानी ५ सेर में औटावे। जब आधसेर पानी शेष रहे तब छान कर कचूर, पोहकरमूल, पीपल, त्रायमाण, भूमिआंवला, चिरायता, कुटकी, सारिवा, ये सब

नोट—कोलाद्यघृत में बेर की लाख का रस लिखा है उसके बनाने की विधि यह है कि एक सेर लाख को चार सेर पानी में औटावे जब १ सेर रहे तब छान ले। और औटाते समय सज्जी, सुहागा, लोध दो २ तोले डालना चाहिये।

एक २ तोला ले। इन औषधियों का कल्क बनावे। और घृत एक सेर, दूध २ सेर डाल कर पचावे। जब घृत मात्र शेष रहे तब छान कर रक्खे। इस घृत से ज्वर, दाह, श्वास, पसली और मस्तक का शूल आदि क्षय के उपद्रव दूर होते हैं।

एलादिघृत—इलायची छोटी, अजमोद, आमल, हरड़े, बहेड़ा, खैर, नीम, विजैशार, (खैर से शाल तक तीनों का खार लेना चाहिये खार न मिले तो छाल लेना) वायबिडंग, भिलाव, चित्रक, त्रिकुटा, मोथा, गोपीचन्दन, ये सब आठ आठ पल लो सोलह गुने जल में पकावे। जब सोलहवां भाग शेष रहे तब छान कर एक सेर घी डाल कर पचावे। जब घी मात्र शेष रहे तव छान कर २ सेर शहत, छः छटांक वंशलोचन का चूर्ण, और एक सेर चौदह छटांक मिश्री मिलाकर मथानी से अच्छी प्रकार मथ कर रख लो। यह घी दो तोले दूध के साथ खिलावे। इसके सेवन करने से यक्ष्मा रोग दूर होता है। इससे बल, वीर्य्य बढ़ता है। सुश्रुतोक्त यह घृत परम रसायन है।

द्राक्षादि घृत—मुनक्का काली एक सेर, मुलेठी आधा सेर कूट कर ६ सेर पानी में औटावे जब १॥ सेर रहे तब छान कर उसमें मुलेठी ४ तोला, मुनक्का ४ तोला, दोसौ

पीपल छोटी ८ तोला का कल्क बना घी १ सेर, दूध ४ सेर डाल कर पचावे। जब घी मात्र शेष रहे तब छान कर मिश्री आध सेर को पीस कर छाने हुए घी में मिलावे यह द्राक्षादि घृत क्षय, उरः क्षत, खांसी, कफ नाशक और बलवर्धक है।

चन्दनादि तैल—चन्दन सफेद, नेत्रबाला नख, कूट, मुलेठी, मजीठ, पदमाख, छड़ छबीला, खस, देवदारू, कायफल, गंधेल घास (पूतकेशर) तेजपात, इलायची छोटी, वालछड़, कंकोल फूलप्रयंगु, मोथा, हल्दी, दारुहल्दी, सारिवा दोनों, कुटकी, लोंग, केशर अगर, दालचीनी, रेनुका, ये प्रत्येक तीन २ तोला और दही का तोड़ बीस सेर, तैल ५ सेर, लाख का रस ५ सेर, सब को एकत्र कर पचावे जब तैल मात्र शेष रहे तब छान ले। इस तैल के मर्दन से बल बढ़ता है, शरीर कान्तिवान होता है. क्षय-रक्त-पित्त नष्ट होते हैं, धातुओं में प्रविष्ठ हुआ ज्वर बाहर निकलता है।

चन्दनादि तैल में जो लाख का रस लिखा है वह इस प्रकार बनाना चाहिये कि लाख २॥ सेर, सज्जी आधपाव, सुहागा आधपाव, लोध आघपाव, बेर की पत्ती ऽ= सब को कूट कर बीस सेर पानी में औटा वे जब ५ सेर रहे छानले। यही लाख का रस है।

दोषौ एक

अश्वगन्धादि तैल—असगन्ध, खैरेटी, लाख, ये तीनों एक २ सेर ले कूट कर एक द्रोण (१६ सेर) पानी में औटावे। जब चौथाई पानी शेष रहे तब छान कर तैल तिल का १॥ सेर, दही का तोड़ ६ सेर और असगन्ध, हल्दी, दारुहल्दी, रैनुका, कूट, मोथा, चन्दन, देवदारु, कुटकी, शतावर, लाख, मूर्वा, पीपरामूल, मजीठ, मुलेठी, खस, सारिबा, ये प्रत्येक औषधियां पौने दो दो तोले ले कल्क बनाकर सब को अग्नि पर रख पचावे जब तैल मात्र शेष रह जावे छान ले। इस तैल की मालिश से यक्ष्मा, ज्वर, कास, श्वास, दूर होते हैं तथा धातुओं की वृद्धि होती है।

लक्ष्मीविलास तैल—इलायची, चन्दन, रास्ना, लाख, नख, कपूर, कंकोल, मोथा, खैरेटी, दालचीनी, हल्दी, पीपल छोटी, अगर, तगर, जटामांशी, कूट ये प्रत्येक औषधियां एक २ तोला और काली अगर ३ तोला ले, डमरू यन्त्र से तैल निकाल ले। यह तैल सुगन्धयुक्त है। पान में लगाकर सेवन करने से कफ को दूर कर जठराग्नि वो दीप्त करता है और शरीर से मालिश करने पर क्षय, बवासीर को नष्टकर स्त्री पुरुषों में प्रीति उत्पन्न करता है।

द्राक्षारिष्ट—मुनक्का २०० तोले ले ३२ सेर पानी में औटावे जब ८ सेर पानी शेष रहे तब छान कर १२॥ सेर गुड़ डाले और दालचीनी, इलायची छोटी, तेजपात, नागकेशर, फूलप्रयंगु, कालीमिर्च, पीपर छोटी, वायबिड़ंग ये आठ औषधियां चार २ तोले डाल कर चिकने बासन में भर मुख बन्द कर एक मास रक्खा रहने दे। १ मास पश्चात् साफ कर बोतलों में भर ले। यह अरिष्ट कफ को निकालने वाला, फेफड़ों को साफ और पुष्ट करने वाला, कास नासक, बलबर्धक, और क्षय नाशक है।

बबूलारिष्ट—बबूल की छाल २ तुला (अर्थात् १२॥ सेर) को कूट कर ६४ सेर पानी में औटावे, जब १६ सेर रहे छान कर १८॥। सेर गुड़ डाले और धाय के फूल ६४ तोले, पीपल छोटी ८ तोले तथा जायफल, कंकोल, लोंग, इलायची छोटी, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर, काली मिर्च, ये सब औषधियाँ चार २ तोले ले। सबको चिकने बासन में भर कर मुख बन्द कर एक मास रक्खा रहने दे। १ मास पश्चात साफ़ कर बोतलों में भर ले। यह अरिष्ट कफ को निकालने वाला, दस्त को बांधने वाला तथा कांस नाशक है।

द्राक्षारिष्ट में अनेक वैद्य धाय के फूल मुनक्कों से चौथाई भाग डालते हैं।

दशमूलारिष्ट—दशमूल २०० तोले, चीते की छाल १०० तोले, पोहकरमूल १०० तोले, लोध ८० तोले, गिलोइ ८० तोले, आंमले ६४ तोले, जवासे की जड़ ४८ तोले, खैरसार ३२ तोले, हड़ का बक्कल ३२ तोला, कूट, मजीठ, देवदारू, वायविडंग, मुलेठी, भारंगी, कैथ, बहेड़े का बक्कल, सांठी की जड़, चव्य, जटामांसी प्रियंगु, सारिवा, कालाजीरा, निशोथ, रैनुका, रासना पीपल छोटी, सुपारी, कचूर, हल्दी, सोंफ, पदमाख, नागकेशर, मोथा, इन्द्रजो, काकड़ासिंगी, ये औषधियाँ आठ २ तोले और अष्टवर्ग ६४ तोले ले, सबको कूट-कर आठ गुने जल में क्वाथ करे जब चतुर्थांश रहे तब छान ले। फिर मुनक्का २५६ तोले ले चौगुने जल में पचावे जब चतुर्थांश शेष रहे तब छान कर ऊपर के क्वाथ में मिला दे। और धाय के फूल १२० तो०, शीतलचीनी, खस, चन्दन सफेद, जायफल, लोंग, दालचीनी, इलायची छोटी, तेजपात, नागकेसर, पीपल छोटी, ये सब आठ आठ तोले और कस्तूरी ४ माशे डाल कर चिकने बासन में भर मुख बन्द कर एक महीना धरा रहने दे। पश्चात् छान कर निर्मली डाल साफ कर बोतलों में भर ले। यह अरिष्ट बात प्रधान क्षय के लिये तथा नजला प्रतिश्याय के लिये अति लाभदायक तथा बलवर्धक है।

बासारिष्ट—बासे के पत्तों का स्वरस १०० तोला, मृतसंजीवनी सुरा १०० तोले. मुलेठी का सत्व २ तोला, कपूर १ तोला, अफीम १ तोला, भारंगी १ तोला, बहेरे का बक्कल २ तोला, लोंग २ तोला, जायफल १ तोला. इलायची छोटी २ तोला, मिर्चकाली १ तोला, तालीसपत्र २) काकड़ासिंगी १) मिश्री ४० तोला इन सब औषधियों को कूट कर चिकने बासन में भर मुख बन्द कर १ महीना रक्खा रहने दे। पश्चात् छान कर साफ कर ले। यह अरिष्ट बढ़े हुये कफ को नष्ट कर खांसी को दूर करता है तथा क्षय, ज्वर, प्रतिश्याय को नष्ट करता है।

चित्तचन्दरासव—मोथा, मिर्चकारी, चव्य, चीते की छाल, हल्दी, वायविडंग, आंवला, खस, छाड़छवीला, सुपारी, लोध. तेजपात, वर्कतिव्वत, चन्दन सफेद, तगर, वालछड़, देवदारु, दालचीनी, गोंद, नागकेशर, ये प्रत्येक औषधियां आठ २ माशे ले और धाय के फूल ४० तोला, मुनक्का ८० तो०, गुड़पुराना १५ सेर, जल २६ सेर डाल चिकने वासन में भर मुख बन्द कर एक मास रक्खा रहने दे। पश्चात छान साफ कर बोतलों में भर रक्खे। यह चित्त चन्दरासव सिद्धभैषज्यमणिमाला में मुद्रित है और कफ-काश-क्षय नाशक और वलवर्द्धक है।

मृगांकपोटलीरस—पारा १ भाग, स्वर्ण के वर्क १ भाग, मोती २ भाग, गंधक शुद्ध २ भाग, सुहागा चौथाई भाग। प्रथम पारा और स्वर्ण के वर्क घोटे जब स्वर्ण के कण न चमके तब मोती डाल कर घोटे जब खूब बारीक हो जावे तब गन्धक-सुहागा डाल कर घोटे और जब सब एक हो जावे तब कांजी डाल दो पहर घोट कर टिकिया बना सुखावे। पश्चात् सम्पुट कर लवण से पूर्ण किये हुये बर्तन के बीच में रख ८ पहर की अग्नि दे। स्वांग शीतल होने पर निकाले। यह मृगांक पोटलीरस उस अवस्था में देना चाहिये जब कि क्षय, ज्वर, कास-मन्दाग्नि, ग्रहणी के साथ में निर्बलता अधिक हो। उस समय देने से बड़ा लाभ देता है।

स्वर्णमालतीबसंत—स्वर्ण के वर्क १ तो०, मोती २ तो०, कालीमिर्च धुली हुई ३ तो०, शुद्ध हिंगलू ४ तो०, खर्पर शुद्ध ८ तो० (अभाव में यशद भस्म), गाय की लोनी ६ माशा सब को खरल कर बारीक करले पश्चात् नीबू का रस डाल खरल करे। जब तक गाय की लोनी की चिकनाई नष्ट न हो जावे तब तक नीबू का अर्क डाल घोटता रहे। जब चिकनाई न रहे तब टिकिया

स्वर्णमालती बसंत में आज कल अनेक बैद्य अच्छा व असली खर्पर न मिलने से शुद्ध यशदभस्म डालते हैं।

दोसौ के

बना सुखाले। यह सब प्रकार के ज्वर, क्षय, स्वास, कफ को नष्ट कर बल बढ़ाती है।

वसंत कुसुमाकर—प्रवालभस्म, रससिन्दूर, मोती, अभ्रकभस्म चार-चार माशे, रौप्यभस्म, स्वर्णभस्म दो-दो माशे, लोहभस्म, नागभस्म, वंगभस्म तीन-तीन माशे ले। सब को मिला खरल कर अडूसे के पतों का स्वरस, हल्दी का क्वाथ, ईख का स्वरस, कमल के फूलों का स्वरस, मालती के फूलों का स्वरस, केला की जड़ का स्वरस, अगर का क्वाथ, चन्दन सफेद का क्वाथ इन औषधियों की अगल २ सात २ भावना देवे। यह बसंत कुसुमाकर रस उस अवस्था में अति लाभ देता है जब कि क्षय के साथ वीर्य्य बिकार हो, कास के साथ कफ की अधिकता हो, बलहीन हो।

राजमृगाङ्करस—पारे की भस्म (रससिन्दूर) ३ भाग, स्वर्णभस्म १ भाग, ताम्रभस्म १ भाग, मनसिल २ भाग, शुद्धगंधक २ भाग, हरताल २ भाग, सब को बारीक चूर्ण कर पीली बड़ी कौड़ियों में भर, बकरी का दूध और सुहागा पीस कौड़ियों का मुख बन्दकर सुखावे। सुखाने के पश्चात् मिट्टी के वर्तन में रख उसका मुख बन्द कर गजपुट में फूंक दे। स्वांग शीतल होने पर मिट्टी के वर्तन को अलग कर कौड़ियों सहित रस को पीस ले। यही

राजमृगांक रस है। अनुपान कालीमिर्च, पीपल, घी, शहद। यह रस कफप्रधान क्षय के लिये अति लाभदायक है।

अमृतेश्वर रस—पारे की भस्म (रससिन्दूर), गिलोइ का सत्व, लोहभस्म, इन तीन औषधियों को समान भाग मिलाने से ही अमृतेश्वर रस बनता है। यह रस उस अवस्था में जब कि क्षय के साथ यकृत विकार हो लाभ देता है।

हेमगर्भपोटली रस—शुद्ध पारा एक तोला, स्वर्ण के वर्क ३ माशा, गंधक शुद्ध २॥ तोला ले। कचनार के रस में खरल कर गोला बनाय सराव सम्पुट में बन्दकर कपड़ मिट्टी कर सुखाकर भूधर यन्त्र में पचावे। स्वांग शीतल होने पर निकाल उसके समान शु० गंधक मिला अद्रक के स्वरस और चित्रक की जड़ के क्वाथ में भावना देकर सुखाकर पीसले, फिर पीली बड़ी कौड़ियों में भर सब औपधियों से आधा भाग सुहागा और चौथाई भाग सींगिया ले दोनों को थूहर के दूध में पीस कौड़ियों के मुखों को बन्द कर दे। और एक हांड़ी ले उस में आधा चूना (कलई) भर कौड़ियों को रख फिर चूना भर हांडी को भर दे और हांडी का मुख बन्दकर गजपुट की अग्नि दे जब शीतल हो जावे तब सावधानी से हांडी में से

कौड़ियों को निकाल खरल कर शीशी में भर रखे । यह हेमगर्भपोटली रस कफ प्रधान क्षय में दे । हेमगर्भ पोटली रस की सेवन विधि व पथ्य वृ० लोकनाथ रस के समान है ।

तथा इस में भी विशेषता यह है कि ३ दिन अधिक निमक न खाय । जब इस औषधि से उलटी (बमन) होने लगे तब गिलोइ का क्वाथ शहत डाल के देवे इससे उलटी आना बन्द हो जाती है । कफ का अधिक प्रकोप हो तो शहत और अद्रक का रस मिला कर दे । दस्त होने लगे तो भाँग को घी में भून दही मिलाकर देवे, तो दस्त बन्द हो । यह रस कफ प्रधान तथा वायु प्रधान क्षय को नष्टकर अग्नि को प्रदीप्त करता है ।

वृ० लोकनाथरस—बुभुक्षित पारा २ भाग, शुद्ध-गंधक २ भाग ले कज्जली कर पारे से चौगुनी पीली कौड़ियों को ले उस में कज्जली भर दे । और सुहागा १ भाग ले गौ के दूध में पीस कौड़ियों के मुख को बन्द कर दे फिर शंख के टुकड़े ८ भाग ले और मिट्टी के दो सरवा ले एक में चूना भर के उस के ऊपर शंख के टुकड़ा रख कौड़ी रख ऊपर से फिर शंख के टूक रख फिर चूना दाव २ के भर सरवा ढक कपड़ मिट्टी कर एक हाथ के गड्ढे में आरने कण्डा भर बीच में सम्पुट को रख अग्नि दे ।

स्वांग शीतल होने पर चूना से कौड़ियों को व शंख को निकाल खरल में घोट कर शीशी में भरले। इस बृ० लोक नाथरस की मात्रा एक रत्ती से ६ रत्ती तक है। १६ कालीमिर्च के चूर्ण में मिला बात प्रधान क्षय में घी के साथ, पित्त प्रधान क्षय में मक्खन के साथ और कफ प्रधान क्षय में शहत के साथ दे। तथा अतिसार, क्षय अरुचि, संग्रहणी से मन्दाग्नि खांसी, श्वांस, गुल इतने रोगों में भी इस रस को दे। रस को सेवन कर घी भात के ३ ग्रास खाय, फिर शय्या पर बिना बिछौना के एकक्षण मात्र चित्त लेट जावे। खट्टे पदार्थ त्याग कर घृत से भोजन करे। तथा उत्तम मीठा दही भोजन में खावे। सायंकाल में जब भूख लगे तब दूध भात खाय। तिल आमल इनका कल्क कर के शरीर में मालिश कर के स्नान करे। स्नान का जल सुहाता गरम लवे। तेल का स्पर्श भी न करे। पथ्य से रहे।

महालक्ष्मीविलास रस—अभ्रक भस्म ८ तोला, पारा ४ तो०, गंधक ४ तो०, चान्दीभस्म १ तो०, सुवर्ण भस्म १ तो०, स्वर्ण माक्षिक १ तो०, वंगभस्म २ तो०, ताम्रभस्म ६ मासा, कपूर ४ तो०। जावित्री, जायफल, विधारे के वीज और धतूरे के बीज प्रत्येक दो-दो तोले। इन सब द्रव्यों को पान के रस में मर्दन करके २ रत्ती की गोलियां बना लें।

दोसौ दस

बसन्ततिलक रस—लौह भस्म, वङ्गभस्म, स्वर्ण-माक्षिक भस्म, अभ्रक भस्म, मूंगाभस्म, रजतभस्म, मोती-भस्म, जावित्री, जायफल, दालचीनी, छोटीइलायची, तेज-पत्र, नागकेशर प्रत्येक समभाग इन्हें एकत्र त्रिफला के क्वाथ से मर्दन कर २ रत्ती की गोली बनावे इसमें वैद्य रोगानु-सार अनुपानों की कल्पना करे। इसके सेवन से सम्पूर्ण वात रोग, अपस्मार, विसूचिका, क्षय, उन्माद, शरीरस्तम्भ एवं प्रमेह प्रभृति रोग शान्त होते हैं।

यक्ष्मारि लौह—स्वर्णमाक्षिक भस्म, शिलाजीत, हरड़, वायविड़ंग प्रत्येक १ तो०, लौहभस्म ४ तो०, मात्रा २ रत्ती अनुपान घृत तथा मधु। इसके सेवन से पथ्याशी पुरुष का यक्ष्मा रोग नष्ट हो जाता है।

शिलाजत्वादि लौह—शिलाजीत, मुलेठी, त्रिकटु, स्वर्णमाक्षिक भस्म प्रत्येक १ भाग लौह भस्म ६ भाग इन्हें एकत्र मिश्रित करे इसे दुग्ध के साथ सेवन करने से रक्तक्षय नष्ट होता है। मात्रा २ रत्ती।

क्षयकेशरी—त्रिकटु, त्रिफला, छोटी इलायची, जाय-फल, लोंग प्रत्येक १ भाग लौहभस्म ८ भाग इन्हें बकरी के दूध से मर्दन करे २ रत्ती की बटिका बनावे अनुपान मधु। यह रस क्षय रोग नष्ट करता है।

रसेन्द्रगुटिका २ तोले विशुद्ध पारद को जयन्ती तथा अदरख के रस में तब तक खरल में मर्दन करे जब तक पारद पिण्डाकार न हो जाय। पश्चात् इस पारद को जलकर्णा तथा मकोय के रस से पृथक भावना दे और भृङ्गराज के रस से भावित कर तो० गन्धक चूर्ण से कज्जली करे तदन्तर २ प० (१६) तोले बकरी के दुध से मर्दन करे। ४ रत्ती की गोली बनावे। इसके सेवन से सम्पूर्ण लक्षण युक्त क्षय-कास-रक्त-पित्त-अरुचि तथा अम्लपित्त आदि रोग नष्ट होते हैं, पथ्य दूध।

भृङ्गाराभ्र—अभ्रकभस्म १६ तोलो कपूर, जावित्री, गन्धवाला, गजपिप्पली, तेजपत्र, लौंग, जटामांसी, तालीस-पत्र, दालचीनी, नागकेशर, कुष्ठ, धाय के फूल प्रत्येक आधा तोला हरड़, आंवला, वहेड़ा, त्रिकटु, प्रत्येक २ मासे $\frac{1}{8}$ तो० छोटी इलायची जायफल भूधर यन्त्र द्वारा शुद्ध गन्धक प्रत्येक १ तोला पारद आधा तो०, इन्हें एकत्र मिश्रित करके जल से मर्दन कर बटी बनावे। मात्रा १ से २ रत्ती। इसे प्रातःकाल सेवन कर अदरख तथा पान को चबावे पश्चात् जलपान करे इस प्रकार सेवन करने से दुष्टाग्नि जन्य कोष्ठ रोग, ज्वर, उदर रोग, प्रमेंह, मेद रोग, शर्दि शूल, अम्लपित्त, तृष्णा, गुल्म, पाण्डु, रक्तपित्त, विषज रोग, पीनस, प्लीहा, आमाशय रोग तथा अन्य बात पित्त कफ

व्याधियां नष्ट होती हैं। यह वल्यवृष्य तथा भोज्य है। इस औषध के सेव न से पुष्टि होती है। पथ्य गोदुग्ध तथा अन्य मिष्ट भोजन। यह औषध वृष्य तथा वाजीकरण है, इसको सेवन करते समय प्रथम कुछ दिनों तक शाक तथा अम्ल पदार्थों का वर्जन करना चाहिये पश्चात यथेष्ट भोजन करे। इस औषध के प्रसाद से दीर्घायु कामदेव के समान दिव्य-रूप वाला तथा रोग एवं वृद्धावस्था के वली पलित आदि लक्षणों से रहित हो जाता है।

मृगाङ्क चूर्ण— प्रवाल भस्म, मुक्ता भस्म, शंखभस्म, वंगभस्म इन्हें सम परिमाण में मिलाकर निम्बत्वक के क्वाथ से मर्दन करे तदन्तर शुष्क हो जाने पर गजपुट दे पश्चात इस औषध के बराबर वंशलोचन का १/१६ हिंगलू मिलावे। मात्रा २ रत्ती अनुपान पिप्पली चुर्ण-मधु। यह मूत्र-कृच्छ्र, क्षय, कास, यक्ष्मा, स्वरभेद, ज्वर, त्रिदोषज, प्रमेह नष्ट करता है। यह सम्पूर्ण खासी को नष्ट करता है।

स्वल्प मृगाङ्क—रस सिन्दूर तथा स्वर्णभस्म इन्हें समभाग में मिश्रित कर आधी रत्ती मात्रा में उपयोग करावे। अनुपान पिप्पली चूर्ण। यह स्वल्प मृगाङ्क रस कास-क्षय तथा श्वास को नष्ट करता है बल वर्ण एवं अग्नि को बढ़ाता है।

मृगाङ्क वटी—पारद, गन्धक, लौह भस्म, अभ्रक भस्म, सुहागा, त्रिकटु, त्रिफला, चव्य. तालीसपत्र, पिप्पली,

लालकमल, कच्ची लाख इन्हें सम परिमाण में मिश्रित कर अडूसे के क्वाथ की भावना दे २ रत्ती की गोली बनावे अनुपान लाल कमल का रस, वासा क्वाथ, पिप्पली चूर्ण अथवा गुलर रस। इसके सेवन से बातिक, पैतिक, श्लैष्मिक पित्त श्लेष्मज सम्पूर्ण कास नष्ट होता है। श्वासयुक्त ज्वर, थूक के साथ रक्त आना, तृष्णा, दाह, मूर्च्छा, प्रमेह, कै, भ्रम, प्लीहा, गुल्म, उदर रोग, आनाह कृमि तथा कण्डू नष्ट होते हैं। यह बलवर्ण एवं अग्नि को बढ़ाता है।

सर्वाङ्ग सुन्दर—पारद १ भाग गन्धक १ भाग, सुहागा २ भाग, मुक्ता भस्म १ भाग, मूंगा भस्म १ भाग, शंख भस्म १ भाग, स्वर्ण भस्म आधा भाग इन्हें निम्बू के रस से मर्दन कर पिण्डाकार कर ले तदन्तर लघुपुट दे स्वाङ्ग शीतल होनेपर औषध निकाल कर तीक्षण लौह भस्म आधा भाग तथा लौह भस्म से आधा भाग हिंगलू मिलाकर सूक्ष्म चूर्ण करले। मात्रा २ रत्ती अनुपान पिप्पली और मधु, पिप्पली और घृत, पान का रस, खाण्ड अथवा अदरख का रस। इसके सेवन से राजयक्ष्मा, अर्श, ग्रहणी, प्रमेह, गुल्म, भगन्दर, बातज रोग तथा विशेष श्लेष्मीक रोग नष्ट होते हैं।

महामृगाङ्क—निरुत्थ स्वर्ण भस्म १ भाग, रस-सिन्दूर २ भाग, मुक्ताभस्म ३ भाग, गन्धक ४ भाग,

स्वर्ण माक्षिक भस्म ५ भाग, रजतभस्म ४ भाग, मूंगा-भस्म ७ भाग, सुहागा २ भाग इन्हें एकत्र मिश्रित कर निम्बू के रस से तीन दिन मर्दन कर गोलाकार करे, इस गोला को प्रचण्ड धूप में रख कर सुखावे और मूषा में रुद्ध-कर लवण यन्त्र द्वारा ४ प्रहर तक पाक करे पश्चात मिला-कर चूर्ण करले और १ मिरच चूर्ण, घृत तथा पिप्पली चूर्ण। इस औषध के सेवन करते हुए क्षय रोगोक्त विधि के अनुसार चलना चाहिये तथा बलकर घृत आदि का सेवन एवं पारद विरोधी ककाराष्टक आदि का त्याग करना चाहिये। यह रस बहु लक्षण युक्त यक्ष्मा, ज्वर, गुल्म, विद्रधि, मन्दाग्नि, स्वरभेद, कास, अरुचि, कै, मूर्च्छा, भ्रम, बातव्याधि आदि आठ महा रोग, पाण्डु, कामला, पित्त-रोग तथा मलबन्ध प्रभृति व्याधियों को नष्ट करता है। इस रस की मात्रा २ रत्ती।

नोट—हीराभस्म के अभाव में वैक्रान्तभस्म मिलावे।

ज्वरबिद्रावण रस—पीपल, अतीस, कुटकी, नीम का पत्ता, रससिन्दूर उपरोक्त चीजों का चूर्ण सम भाग लेकर एकत्र मिश्रीत करे। अनुपान मधु या गर्म जल। मात्रा ४ रत्ती से ८ रत्ती तक।

सुदर्शन चूर्ण—अगर, हलिद, देवदारू, वच, मोथा हरड़े, दुरालभा, काकड़ा सिंगी, छोटी कटेरी, सोंठ, त्राय-

मणा, पितपापड़ा, नीमकी छाल, पिपलामूल गन्धवाला कचूर, पुष्करमूल, पीपल, मूर्वामूल, कुड़े की छाल, मुलहटी, सौत्राञ्जन बीज, इन्द्रयव, सतावरी, दारुहल्दि, लालचन्दन, पदमाख, सरकाष्ठ, खस, दालचिनी, फिटकरी, सालपर्णि, अजवायन, अतिस, वेल की छाल, काली मिर्च, प्रसारणी आँवला, गिलोय, कुटकी, चित्रकमूल, कटोलपत्र, कृष्णिपर्णि, इन सबका चूर्ण बराबर २ भाग लेवे सम्पूर्ण चूर्ण से आधा भाग चिरायते का चूर्ण मिलावे। मात्रा चार माशे से छः माशा तक अनुपान जल। यह सुदर्शन चूर्ण सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करता है।

चन्द्रामृत रसः—सोंठ, मिर्च, पीपल, हरड़ बहेड़ा, आवला, चव्य, धनियाँ, जीरा, सैंधवनमक ये इस दवाईयाँ प्रत्येक एक १ तो० पारा २ तो० गन्धक २ तो० लौहभस्म २ तो० सुहागे का लावा ८ तो० कालीमिर्च ४ तो० ये सब दवाईयाँ बकरी के दूध में पिस कर चार ४ रत्ती की गोलियाँ बनावे।

सार्वभौम रस—स्वर्णभस्म, हीराभस्म, अभ्रकभस्म, ये तिनों समान भाग लेकर इन तिनों के समान भाग भुनाग सत्वभस्म, चित्रक के रस में भावना देकर गजफुट में पकावे बाद में कुमारि रस, श्रृंगकविष, त्रिकटु,

इनके क्वाथ की भावना देकर गजपुट दे, एक रत्ती की मात्रा दाख के साथ में लेवें।

शिवागुटिका—शु०शिलाजीत ६४ तो०, दाख, शतावरी, विदारीकन्द, सालपर्णि, पृष्णिपर्णि, पोहकरमूल, पाठा, इन्द्रयव, काकड़ा सिंगी, कुटकी, राशना, नागर मोथा, गोरखमुण्डी, दन्तिमूल, चित्रक, चव्य, गजपिपल जटामांसी, काकोली, क्षिर काकोली, जीवक, रीशवक, मेदा महा मेदा, रीद्धि, वृद्धि, प्रत्येक, चार २ पल लेकर चतुर्गुण जल में क्वाथ कर के शिलाजीत में सात बार भावना दे।

आँवला २ पल, काकड़ा सिंगी २ प०, मिर्च २ प०, पिपल २ प०, सूठ २ प०, विदारीकंद १ प०, तालिसपत्र ४ प०, गऊघृत ४ प०, तिलतैल २ प०, मधु ८ प०, मिश्री १६ प०, वंशलोचन १ प०, पत्रज १ प०, नागकेशर १ प०, दालचीनी १ प०, इलायची १ प० इन सब को मिलाकर दो दो माशे की गोली बनावे। अनूपान—द्राक्षाशव, गौका दूध, जल के साथ।

द्राक्षादि चुर्णम्—दाख, लाजा, श्वेत-कमल, मुलेटी, खजूर, सारिवा, बंशलोचन, नेत्रवाला, आँवला, मोथा, श्वेतचन्दन, तगर, शीतल चीनी, जायफल, पीपल, इलायची, दालचीनी, तेजपता उपरोक्त हरद धनियां सबके बराबर मिश्री।

खण्डकुष्माण्डावलेह—१ प्रस्थ जल, ४ प्रस्थ गव्य घृत १ कुडव इन सबको मिश्री ४ प्रस्थ एक जगह करके पकावे अवलेह की तरह छिद्र हो जावे तब इन दवायों का चूर्ण डाल देवे दालचीनी, इलायची पत्रज, नागकेशर, लवंग, शूंठी, मरिच, पीपला, मूल, चन्दन, मुलेटी, जायफल प्रत्येक तोला तोला भर लेकर चूर्ण बना कर डाले। मधु १ कुडव डाले।

अशोकारिष्ट–अशोक की छाल ६। सेर (एक-तुला) को ६४ सेर जल में काढा कर १६ शेष रखे गुड़ १२॥ सेर, धाय का फूल १ सेर, जीरा स्याह, मोथा, सोंठ, दारु हल्दी, नीलोत्पल, हरड़, बहेड़ा, आमला, आम की गुठली, जीरा, अडूसे के जड़ की छाल और सफेद चन्दन ये १२ दवाइयां ५।५ तोले। सबको एक भांड़े में डाल कर एक महीना रखे। फिर छान कर बोतल भर ले। २॥ तोले भोजन के बाद सेवन करे। यह स्त्रियों के लिये बहुत ही लाभकारी है।

लवणभास्कर चुर्ण–सेन्धानोन, धनिया, पीपल, पीपलामूल, स्याहजीरा, तेजपात, नागकेशर, तालीसपत्र, अम्लवेत—ये १० दवाइयां प्रत्येक दो-दो तोले, समुद्रनोन ८ तोले, संचरनोन ५ तोले, कालीमिर्च, जीरा और सोंठ

एक एक तोले, अनारदाना ४ तोले, दालचीनी और बड़ी इलायची छै छै मासे। इन अठाहर दवाईयों का महीन चुर्ण करके नीबू के रस की भावना दे। इसीका नाम लवणभास्कर चूर्ण है। यह चूर्ण घृत पान से जो अजीर्ण हो उसमें तथा अरुचि में लाभकारी है।

ज्वरसंहार–सूंठ ।।) भरी, मिर्च ।।) भरी, पीपल ।।) भरी, शु० हिंगलू ।।) भरी, फुलाया सुहागा ।।) भरी, इन्द्रजौ ।।) भरी, कुटकी ।।) भरी, कूठ ।।) भरी, रक्त-चन्दन ।।) भरी, मोथा ।।) भरी, नीमछाल ।।) भरी, श्वेत सरसों ।।) भरी, रस सिन्दूर ६) भरी।

चुड़ामणि रस–रससिन्दूर १ तो०, स्वर्णभस्म आधा तो०, गन्धक १ तो०, इन्हें चित्रक के रस तथा धीक्वार के रस से एक प्रहर और बकरी के दूध से ३ प्रहर मर्दन करे। मुक्ताभस्म आधा तो०, मूंगाभस्म आधा तो०, वंगभस्म आधा तो०, मिला कर गोलाकार करे। इसे मृतपात्र में रुद्ध कर लघुपुट दे जब स्वाङ्गशीतल हो जाय तब औषध को निकाल कर श्लक्षण चूर्ण कर ले। मात्रा १ रत्ती। इसे क्षय रोग में मधु के साथ सेवन करावे सेवन के पश्चात शर्करा तथा मधुयुक्त अजाघृत का पान कराना चाहिये।

अभ्रक योग, अमृता प्रयोग, चौसठ प्रहरी पिप्पल प्रयोग, वासा प्रयोग, खूबकला प्रयोग, स्वर्ण पर्पटी प्रयोग, तुलसी प्रयोग, स्वर्ण भस्म प्रयोग, मोती पिष्टी और प्रबाल पिष्टी प्रयोग उपर्युक्त प्रयोगों को सुन्दर चिकित्सक की देख भाल में यक्ष्मा रोगी उपयोग में लावे। ये प्रयोग अचूक लाभकारी हैं।

* *

*

यक्ष्मा के सम्बन्ध में कुछ एलोपैथिक सिद्धान्त

(१) क्षयी अथवा राजयक्ष्मा एक पुरानी बीमारी हैं जो कि फेफड़ों में सूक्ष्म दानों व परमाणु की स्थिति से उत्पन्न होती हैं। ये परमाणु गोलाकार होते हैं। और कभी कभी नंगी आंख से भी देख पड़ते हैं। तथा असंख्य होते हैं। यहां तक कि किसी २ रोग पीड़ित अंग में तो करोड़ों पाये जाते हैं। और उन्हीं के वजह से इस रोग को ट्यूवर्क्यूलोसिस कहते हैं। वे कीटाणु ट्यूवर्किल्स कहाते हैं। यह छोटा सा पर घन जीवी कीटाणु राजयक्ष्मा का प्रधान कारण समझा जाता है। यह दुष्ट घाव डाल २ कर न केवल फेफड़े ही को शनैः शनैः नष्ट करता है, बल्कि साथ ही में "टोक्सिन" नामी एक विषैली पदार्थ को भी उत्पन्न करता है जो अति बिकराल चिन्हों का जन्म दायक है।

(२) सूक्ष्म दर्शक यन्त्रों से क्षय के कीटाणु अधिकतर थूक में पाये जाते हैं वे गोल डंडियों के से स्वरूप वाले होते हैं।

(३) क्षयी के परमाणु श्वास के साथ फेफड़ों में या भोजन के साथ आमाशय में पहुंच कर रोग उत्पन्न करते हैं।

(४) किसी व्रण द्वारा कीटाणु रुधिर में पहुंच कर क्षय रोग पैदा करते हैं।

(५) मादक पदार्थों के इस्तेमाल से या किसी दुर्गुण से निर्बल हुआ शरीर शोष के कीटाणुओं की उपयुक्त भूमि है।

(६) क्षय रोगी का थूक वेपरवाही से पड़ा न रहना चाहिये। क्योंकि थूक में असंख्य कीटाणु रहते हैं। थूक या कफ सूखने से पहले ही नष्ट कर देना चाहिये।

(७) कल कारखानों तथा अन्य बड़े २ स्थानों में थूकदान रख देना चाहिये जिस में ही सब लोग थूक और वह थूक जला दिंया जावे। क्षय रोगी एक २ जेबी थूक-दान रखे और जरूरत के समय उसमें थूक कर जेब में रख ले और पीछे साफ कर डाले।

(८) पशुओं को भी क्षय रोग हो जाता है वे भी प्रायः क्षय रोगियों के थूक चाटने से बीमार हो जाते हैं। इससे थूकदानों को हिफाजत से रखना चाहिये।

(९) क्षय पीड़ित गाय-भैंसों का दूध पीने से क्षय रोग हो जाता है इसलिए दूध को परीक्षा करके काम में लाना चाहिये।

(१०) क्षय रोग संक्रामक है तथा पुश्तैनी है।

(११) कच्चे दूध में क्षय के असंख्य कीटाणु रहते हैं। दूध को औटा कर पीना चाहिये।

(१२) बहुत से रोग हैं जिनसे शरीर दुर्बल हो जाता है और पीछे उसमें कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं, जैसे न्यूमोनिया, चेचक, खसरा, खासी, आतशक।

(१३) कुछ ऐसे पेशे हैं जिनसे क्षय पैदा होता है। जैसे छपाई, सिलाई, पत्थर लोहे उठाने का काम, पिसाई, हलवाईगीरी, कल कारखानो में धूल का काम।

(१४) राजयक्ष्मा के प्रधान लक्षण खाँसी, कफ, मन्दज्वर, श्वास लेने में तकलीफ, हृदय में दर्द, रात्रि में पसीना, भूख की कमी, रुधिर वमन और क्षीणता है।

(१५) क्षय रोग की कई किस्म है जैसे कंठ की क्षयी, हड्डियों की क्षयी, बच्चों की क्षयी, आंतों की क्षयी, कंठ माला क्षयी आदि।

(१६) क्षय रोग यदि नवीन हो तो बड़े प्रयत्न करने से आराम भी हो सकता है।

* *

*

सेनिटोरियम

(आरोग्य भवन)

वास्तव में यक्ष्मा रोगी को सुन्दर व्यवस्था तथा सुचिकित्सा के बिना आरोग्य प्राप्त नहीं हो सकता। शास्त्र-विधि के अनुसार सुचिकित्सा के चारों अंग पूर्ण होने पर ही इस रोग में लाभ हो सकता है। विदेशों में तो इसके प्रतिकार के लिये अनेकों प्रकार की पद्धतियों का आविष्कार हुआ है। परन्तु उन व्यवस्थाओं में आरोग्य-भवनों का होना नितान्त आवश्यक है। दुःख की बात है कि, इस ४० करोड़ जन समुदाय के प्राकृतिक-साधन-सुलभ देश में केवल दस-बारह आरोग्य-भवन हैं जिस में प्रथम श्रेणी के तो ३। ४ से अधिक नहीं हैं। इङ्गलैण्ड एवं वेल्स में—जिसकी जन-संख्या ४ करोड़ से अधिक नहीं है—यक्ष्मा के लिये ४१२ आरोग्य-भवन व चिकित्सा-लय हैं। इन आरोग्य भवनों में १६००० रोगी रह सकते हैं और ७५०० रोगी बाहर से इनका लाभ उठा सकते हैं। वहाँ की व्यवस्था देखते हुए इस ४० कोटि जनसंख्या

वाले देश में १०-१२ सेनिटोरियमों का होना नगण्य सा है। जब तक हमारे देश पर विदेशियों का शासन रहेगा तब तक हमारी इस दशा में परिवर्तन होना संभव भी नहीं दिखता। ऐसी परिस्थिति में हमारे पास जो साधन सुलभ है—उनसे ही लाभ उठाना होगा। भारत के सेनि-टोरियमों का संक्षिप्त विवरण हम यहाँ देते हैं। जन-समुदाय इनसे जो कुछ भी लाभ उठा सके वह अच्छा ही है। यहां के आरोग्य-भवनों के नाम ये हैं—

१. भोईवाडा हिल सेनिटोरियम
(Bhoiwada Hill Sanitorium.)
२. Sanitorium for Hindus, Karala.
३. Bahadurji Sanitorium, Deolali.
४. Belair Sanitorium, Panchgani.
५. Parel Sanitorium
६. Union Mission Sanitorium, Madanpalli.
७. King Edward Sanitorium, Dharmpore.
८. Patiala Durbar Sanitorium, Dharmpore.
९. King Edward VII Sanitorium, Bhowali.
१०. Mission Sanitorium for Females, Almora.

११. Mission Sanitorium, Pendra.
१२. Mission Sanitorium Tilaunia, Ajmer.
१३. Holkar Durbar Sanitorium, Rao.

इनमें भुवाली, धर्मपुर, व मदनपल्ली के सेनिटोरियम विशेष प्रसिद्ध हैं। अब हम यहाँ पर इन सेनिटोरियमों का अलग-अलग विवरण देते हैं।

(क) भुवाली सेनिटोरियम—यह युक्तप्रांत में हिमालय पहाड़ पर है। यह स्थान नैनीताल से ८ मील और काठगोदाम से १३ मील दूर है। समुद्र की सतह से ६००० फीट ऊँचे ६७५ बीघा जमीन लेकर अतिरमीणक स्थान पर यह स्थापित किया गया है। इसमें ६३ रोगियों के रहने का प्रवन्ध है। इन सीटों में ५२ भारतियों के लिये और ११ यूरोपियनों के लिये सुरक्षित हैं। इसमें २० व्यक्तियों के निःशुल्क रहने की भी व्यवस्था है। यहाँ पर अन्य स्थानों के वजाय खर्च कम पड़ता है । यहाँ का मासिक खर्च प्रायः ३०) रुपये से ५०) रुपये तक है। यहाँ की सब बातें 'किंग एडवर्ड सप्तम सेनिटोरियम', भुवाली के सुपरिण्टेण्डेण्ट से पत्र व्यवहार करके जानी जा सकती है।

(ख) धर्मपुर सेनिटोरियम—यह स्थान 'कालका शिमला रेलवे' लाइन पर है। कालका से रेल के रास्ते

२० मील और पैदल रास्ते से १६ मील दूर है। समुद्र की सतह से ५००० फीट ऊँचे स्थान पर ३०० बीघा जमीन के घेरे में यह आरोग्य-भवन बनाया गया है। धर्मपुर स्टेशन से १० मिनट में सेनिटोरियम पहुंच सकते हैं। सवारियों का भी पूरा प्रबन्ध है और उनका किराया ||) से रुपया तक लगता है। इसमें ५० रोगियों के ठहरने की व्यवस्था है जिनमें १० व्यक्ति निःशुल्क रखे जाते हैं। यहाँ का खर्च करीब ६०) रुपये मासिक है। अच्छा मकान लेकर रहने पर मकान का किराया ५०) से ८०) तक पड़ता है और भोजन आदि का खर्च प्रायः ३०) रुपये पड़ जाता है। यहाँ पर नौकरों का वेतन १२) से १५) रुपये तक मासिक है। स्त्रियों के रहने का भी अलग प्रबन्ध है। यहाँ के सुपरिण्टेण्डेण्ट से पत्र व्यवहार कर सब बातें आसानी से जानी जा सकती हैं।

(ग) मदनापल्ली सेनिटोरियम—इस सेनिटोरियम का यूनियन मिशन द्वारा संचालन हो रहा है। यह सन् १९१२ ई० में मद्रास प्रान्त के विलूर जिले के मदनापल्ली स्थान में स्थापित हुआ था। यद्यपि इसका नाम 'यूरोपियन मिशन सेनिरोटियम' है और खास कर इसाइयों के लिये ही यह बना भी है तथापि हिन्दू और मुसलमानों को भी इसमें स्थान मिल जाता है। इन कई वर्षों में मारवाड़ी भी इसमें भर्त्ती हुए हैं और उनको

आरोग्य लाभ हुआ है। यहाँ का प्रबन्ध सराहनीय है। इसे आर्थिक सहायता अच्छी प्राप्त हो जाती है। मद्रास सरकार ने भी एक बार इसकी काफी सहायता की थी। यह स्थान समुद्र से बहुत ऊँचा नहीं है। इसके चारों तरफ सघन जंगल हैं। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बहुत ही मनोहर है। जलवायु बहुत अच्छा है और भूख भी खूब लगती है। यहाँ के जल में पाचनशक्ति बहुत है। यहाँ पर बहुत व्यक्तियों के रहने का स्थान है। २०० से ३०० तक रोगियों का इलाज यहाँ हो सकता है। यहाँ का प्रबन्ध बहुत सुन्दर है। यहाँ इलाज भी खूब सावधानी के साथ किया जाता है। यहां बाहर वालों के लिये दो-चार बातों का कष्ट भी है। एक तो यहाँ की भाषा मद्रासी है—जिसको समझने में अन्य प्रान्त वालों को कठिनाई पड़ती है और दूसरे खान-पान की सामग्री भी सुविधापूर्वक नहीं प्राप्त हो सकती। यहाँ खर्च तो अधिक पड़ता है पर यहाँ से आरोग्य प्राप्त कर जितने रोगी निकले हैं—उनपर अभी तक किसी प्रकार के रोग का आक्रमण नहीं हुआ है।

अभी थोड़े रुपये से कलकत्ते के समीप यादवपुर में भी एक आरोग्य-भवन बना है। कलकत्ते के मेडिकल कालेज में भी क्षय रोगियों के रखने का प्रबन्ध है। इनके सिवाय बनारस, पुरी, बम्बई, दार्जिलिंग, लाहोर आदि स्थानों में भी यक्ष्मा-चिकित्सालय हैं।

भारत में बने समस्त आरोग्य भवनों की सामर्थ्य केवल ५०० रोगियों की सेवा करने तक की सीमित है। ४० करोड़ की आबादी वाले देश के लिये यह संख्या कुछ भी नहीं है। देश के धनकुबेरों का ध्यान भी इधर नहीं जाता। भारत के असंख्य नौनिहाल इलाज के बिना ही काल के ग्रास बन जाते हैं। सर्व सुखदायिनी लक्ष्मी की जिन पर कृपा है—उनकी चिकित्सा का तो कहीं न कहीं प्रबन्ध हो ही जाता है पर दरिद्रनारायण के वर-पुत्रों के लिये कहीं स्थान नहीं हैं। उनके कष्टों का अन्त तो शान्तिदायिनी 'मृत्यु' ही कर सकती है।

आरोग्य भवनों से रोगियों को अनेक प्रकार के लाभ होते हैं जैसे—

१ खुली और साफ हवा प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है।

२ आरोग्यता प्राप्त करने के लिये प्राकृतिक आहार-विहार भी प्राप्त होता है।

३ रोगी अपनी शक्ति के अनुसार और आवश्यकता लायक प्रकाश, वायु, परिश्रम—विश्राम—प्रभृति का नियम पूर्वक सेवन कर सकता है।

४ आवश्यकतानुसार सब प्रकार की चिकित्सा भी सुलभता से मिल जाती है।

५ संयम की शिक्षा।

६ चारों तरफ मनोहर प्राकृतिक सुन्दर सुन्दर दृश्य।

७ समय समय पर डाक्टरों की देख भाल की सुलभता।

८ बहुदर्शी और विशेषज्ञों का उपदेश।

९ विश्राम और नियम-पालन।

१० निर्मल शुद्ध वायु।

११ सामर्थ्यानुसार शारीरिक व्यायाम।

* *

*

मदनापल्ली सेनीटोरियम का अस्थाई स्पेशल वार्ड
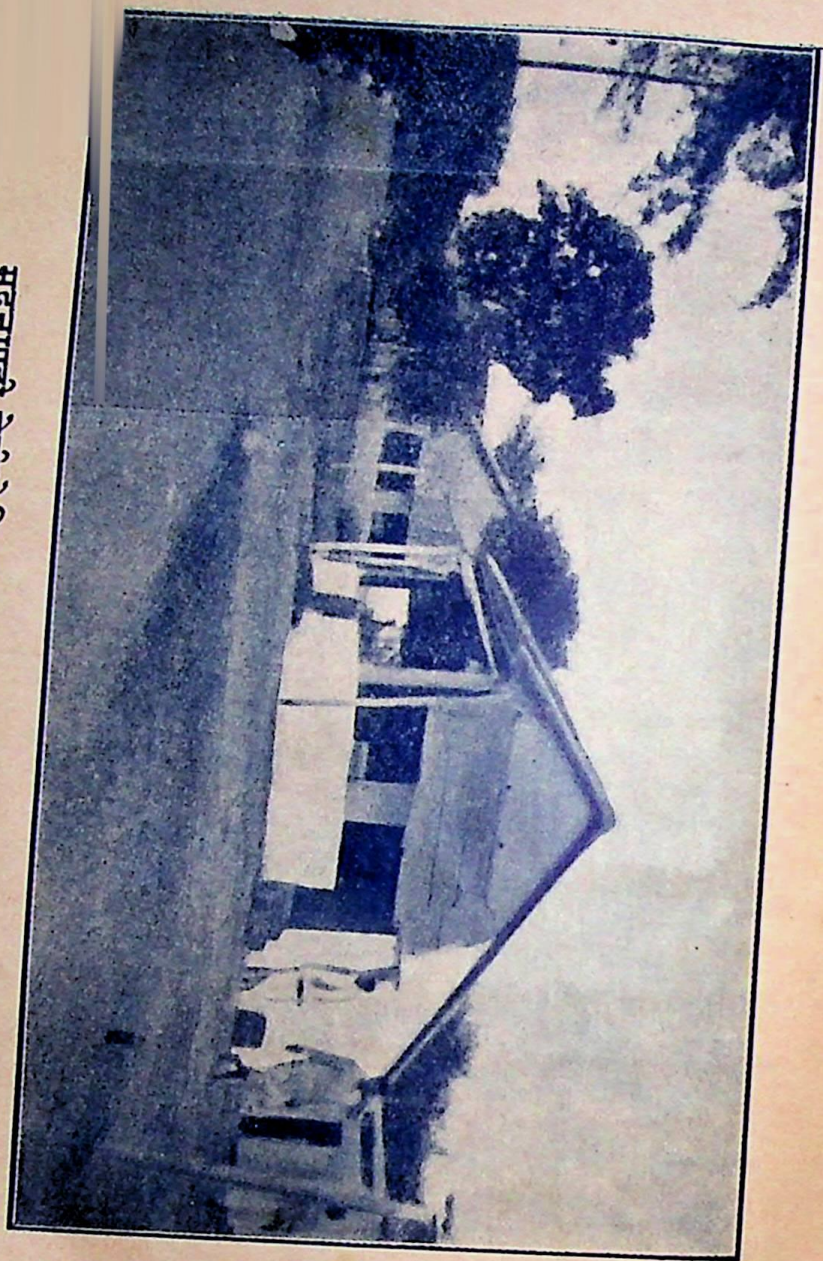
दोसौ ती

इटकी सेनिटोरियम

बिहार प्रान्त में रांची के समीप करीब १४ माईल दूर
इटकी में एक बहुत सुन्दर यक्ष्मा का सेनिटोरियम है।
स्थान समुद्र की सतह से २२०० फीट ऊँचा है। यह स्थान ब
ही सुन्दर एवं मनोहर दृश्यों से भव्य और पहाड़ों के बीच
है। रांची से मोटर द्वारा जाना होता है। इसमें विशेषत
बिहार प्रान्त निवासी ही भर्ती किये जाते हैं। अन्य प्रान
निवासी भी रिक्त स्थान होने से भर्ती किये जा सकते हैं। वह
इलाज का सुप्रबन्ध है। आवहवा स्वास्थ्यप्रद है। कमरे रह
के लिये ३०), ६०), ८०) तथा १००) मासिक रु० भाड़े प
मिलते हैं।

रांची के समीप होने से खान-पान की चीजें सुविधा से प्रा
हो सकती है। सेनिटोरियम की तरफ से भी ताजा फल औ
खाने के पदार्थों की दूकान का सुप्रबन्ध है। नौकर को अपने
साथ ही ले जाना चाहिये। वहां सुयोग्य नौकर नहीं मिलते।
सेनिटोरियम का खर्च कम से कम १००) मासिक तक में चल
सकता है। यहां पर बंगाल तथा आसाम निवासियों को जाने
में सुविधा है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	शुद्ध	अशुद्ध
११३ लाइन २०	बिच्छू	बिच्छ
१७६	त्रयोदशाङ्ग	त्रयोदशाङ्क
१८१-लाइन १६	चित्रक	चीने
१८३ " १२	गुटिका	गुड़
१८५ " १	मिलित	मिलत
१८६ " १६	त्रयोदशांग	त्रयोदुशांग
१९२ " २१	छोटी	चोटी
१९९ " ६	खजूर	खजूरा
२०२ " १८	को	वो
२१० " ७	गुल्म	गुल
२१८ " १	जल ४ प्रस्थ, गव्य घृत १ कुड़व	१-प्रस्थ जल ४, प्रस्थ गव्य घृत १ कुड़व
२१९-लाइन १३	धीक्वार	धीक्वार

—**—

दोसौ

१-लाइ
८३ ”
१८५ ”
१८६ ”
१९२ ”
१९९ ”
२०२ ”
२१० ”
२१८ ”

२१९-लाइन